आधुनिक समीक्षा : कुछ समस्याएँ

लेखक
डा० देवराज

प्रकाशक
राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट,
दिल्ली-६.

प्रकाशक
राजपाल एण्ड सन्ज
कश्मीरी गेट,
दिल्ली-६

मूल्य
चार रुपया आठ आना

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस,
क्वीन्स रोड, दिल्ली।

समर्पण

गीता और समाजवाद के मूर्तिमान समन्वय
प्रोफेसर मुकुटबिहारीलाल अध्यक्ष,
राजनीति-विभाग, काशी
विश्वविद्यालय को

निवेदन

प्रस्तुत सग्रह में मेरे पिछले तीन-चार वर्षो के निवन्ध इकट्ठे किये गये है। 'साहित्य-चिन्ता' के निवन्धो की भाँति ये निवन्ध भी मुख्यत सैद्धान्तिक है। इनका उद्देश्य साहित्य तथा आलोचना-सम्वन्धी कतिपय प्रचलित मान्यताओ को आकते हुए अपने मन्तव्यो को प्रतिपादित करना है। साहित्य से सम्बन्धित समस्याएँ अनेक है। दुर्भाग्य से इस देश तथा हमारी भाषा में इन विविध समस्याओ के सम्बन्ध में जिम्मेदारी के साथ चिन्तन करने की परम्परा नहीं है। इसका एक प्रमुख कारण आज के युग में राजनीतिक दलवदियो की प्रधानता है जो साहित्य के क्षेत्र को भी आक्रान्त किये हुये है। किन्तु केवल यही कारण नहीं है। सवसे वडा कारण है हमारा जातीय स्वभाव, जिसमें मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति यदि अनुपस्थित नहीं तो वहुत ही शिथिल है। हमारे देश में आपको ऐसे बहुत-से वयोवृद्ध मिलेंगे जो प्राचीन सस्कृति के उत्कट प्रेमी है, ऐसे असख्य नवयुवक भी मिलेंगे जो कार्लमार्क्स अथवा किसी दूसरे वडे विचारक के कट्टर अनुयायी है, किन्तु ऐसे लोग प्राय नहीं के वरावर मिलेंगे जो यह महसूस करते हो कि एक स्वतन्त्र महादेश के नागरिक होने के नाते हमारा यह कर्तव्य है कि हम विश्व के सास्कृतिक जीवन में सृजनात्मक सहयोग दें। प्राचीन अथवा नवीन किसी भी सास्कृतिक परम्परा से प्रेरणा लेना केवल वञ्छनीय ही नहीं है, वल्कि जरूरी है; किन्तु इस प्रेरणा लेने का अर्थ अपने सृजनात्मक दायित्व से छुट्टी पा जाना नहीं है। सच पूछिये तो नये-पुराने महत्वपूर्ण विचारको से उचित प्रेरणा वही ले सकता है जो स्वयं विचार-शील है, यह वात व्यक्तियो तथा जातियो, सब पर लागू होती है। यह देखकर वडा कष्ट होता है कि आज हमारे देशवासी इस लायक भी नहीं रह गये है कि अपनी समृद्धि सास्कृतिक धरोहर का उचित मूल्याकन एव उपयोग कर सकें, उसमें वृद्धि करने का प्रश्न तो और भी कठिन है। हम योरपीय विचार-राशि का भी समुचित उपयोग करना नहीं जानते। अर्थ-गौरव से युक्त गद्य का जो धरातल हमें 'काव्य-प्रकाश' जैसे अलकार-ग्रन्थों तथा शकर, वाचस्पति मिश्र आदि विचारको की कृतियो में मिलता है, वह आज हिन्दी के कितने लेखकों में मिल सकेगा? और आज के काव्य में कालिदास की वाणी की ऋजु प्राजलता

भी कहाँ उपलब्ध हो सकेगी ? जान पडता है जैसे, एक राष्ट्र की हैसियत से, हम यह स्वप्न तक नही देखना चाहते कि हम प्राचीन भारतीय मनीषियो से आगे तथा ऊपर की दिशा में विकास करें। वर्त्तमान युग के यान्त्रिक आविष्कारो की भाँति हम विचार-क्षेत्र में भी या तो योरप पर ही निर्भर रहना चाहते है, या फिर प्राचीनो का ढिढोरा पीटना। हमें इस बात की कोई लज्जा नही है कि सास्कृतिक दृष्टि से, केवल हम योरपीय लोगो के असमकक्ष ही नहीं है, अपितु अपने पूर्वजो के योग्य उत्तराधिकारी बनने लायक भी नही रह गये हैं।

ऐसे देश में यह आश्चर्य की बात नही कि स्वतत्र-चिन्तन का कोई प्रयत्न तीखी तथा गहरी प्रतिक्रिया उत्पन्न न करे। मैंने हिन्दी में अब तक एक भी ऐसा लेख या निबन्ध नही देखा जहाँ प्रस्तुत लेखक के किसी मन्तव्य को आंकने का, उसके खण्डन या मण्डन का, वैज्ञानिक प्रयत्न किया गया हो। अवश्य ही श्री जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'अवन्तिका' में 'कल्पना और वास्तविकता' शीर्षक से दो निबन्ध लिखे, पर इसमें सन्देह किया जा सकता है कि वे प्रेरणा एव निष्पत्ति दोनो की दृष्टि से व्यवस्थित एव वैज्ञानिक थे। किन्तु शास्त्री जी मुख्यत कवि है, मेरी शिकायत हिन्दी के विचारशील आलोचको से है, विशेषत उनसे जो साहित्य का दिशा-निर्देश करने का दावा करते है। एक बात और है—यह जरूरी नहीं कि अपने से भिन्न मत रखने वालो को अथवा अपने विरोधियो को, मै ही उत्तर दूँ। विभिन्न व्यस्तताओ के बीच मेरे लिए इतना अवकाश होना दुर्लभ है। मै इतनी आशा रखता हूँ कि मुझ पर ही नहीं, किसी भी लेखक पर यदि कहीं अन्यायपूर्ण प्रहार हो तो अनेक समर्थ लेखक उसका प्रतिकार करने को तैयार रहे। ज्यादा महत्व की बात यह है कि हिन्दी के लेखको में साहित्य से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नो पर स्वस्थ एव वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने का चाव बढे।

केवल साहित्य-समीक्षा के ही नहीं, ज्ञान-विज्ञान के प्राय प्रत्येक क्षेत्र में, हमारे देश की वही दशा है—अर्थात् सृजनात्मक चिन्तत-शीलता का अभाव। कभी-कभी इस स्थिति से वडी निराशा और क्षोभ होता है। क्या सचमुच ही स्पेंगलर जैसे विचारको का यह कहना ठीक है कि भारतीय सस्कृति सदा के लिए मर चुकी ? क्या अब कभी भविष्य में हम इस लायक नहीं बन सकेंगे कि दूसरे देशो से केवल आदान न करते हुए उन्हे कुछ दे भी सकें ? मै यह नहीं मानता कि इतिहास की प्रगति किन्हीं अटूट नियमो द्वारा निर्धारित है। मै विश्वास करता हूँ कि मनुष्य जाति एव विभिन्न राष्ट्र अपने इतिहास का स्वय

निर्माण करते और कर सकते है। हम भारतीय भी उचित प्रयत्न द्वारा देश की सोई हुई सृजन-चेतना को जगा सकते है। इस विश्वास और सकल्प में सक्रिय सहयोग देने के लिए मै, विशेषत नई पीढी के युवक-युवतियो का आह्वान करता हूँ।

इस सम्बन्ध में हमें प्राचीनता के उन रूढिवादी उपासको से सावधान रहना होगा जो, कोई उपयोगी नई बात कहने की स्थिति में न होते हुए, प्राचीन की दुहाई मात्र देकर—उसके नाम पर नवीन को कोसकर—अपनी महत्ता का अनुभव करना चाहते है। जो व्यक्ति प्राचीन की बहुत ज्यादा दुहाई दे उसके सम्बन्ध में एक स्पष्ट प्रश्न करना चाहिये—क्या इस व्यक्ति ने अब तक स्वय भी कोइ उपयोगी चिन्तन किया है ? यदि नही, तो आप निश्चय जान लें कि वह व्यक्ति प्राचीन मनीषियो की व्याख्या कर सकने लायक प्रतिभा से सम्पन्न नहीं है।

ये निबन्ध स्वतत्र होते हुए भी एक केन्द्रीय दृष्टि से अनुप्राणित है। अवश्य ही इस दृष्टि का साक्षात्कार लेखक को क्रमश हुआ है। 'साहित्य-चिन्ता' में चिन्तन का प्रधान विषय साहित्य है, प्रस्तुत सग्रह का केन्द्रगत विषय साहित्य-समीक्षा है। मेरी समीक्षा-सम्बन्धी मान्यताओ का समग्र रूप अन्त के दो निबन्धो—'आलोचना-सम्बन्धी मेरी मान्यतायें' तथा 'एक भूमिका'—में मिल सकेगा। यो तो सग्रह के सारे निबन्ध लेखक के समीक्षा या मूल्याकन से सम्बद्ध विचारो के स्पष्टीकरण के लिए ही है।

'साहित्य-चिन्ता' के वक्तव्य में मैने कहा था कि मै भविष्य में व्यावहारिक समीक्षायें न लिख सकूँगा। केवल अन्तिम निबन्ध ही इसका अपवाद कहा जा सकता है। तुलसी-सम्बन्धी निबन्धो का प्रयोजन सैद्धान्तिक ही है। यू मै जानता हूँ कि व्यावहारिक समीक्षा के निबन्ध ही पुस्तक को परीक्षार्थियो के लिए उपयोगी बनाते है। किन्तु इस प्रकार के उपयोगी ग्रन्थो की शायद, हिन्दी में कमी नहीं है।

प्रस्तुत वक्तव्य में मुझे हिन्दी पाठको को एक दूसरी सूचना देनी है—भविष्य में शायद मै इस प्रकार के निबन्ध लिखने का अवकाश न पा सकूँ, और इस ढग का तीसरा सग्रह हिन्दी की भेंट न कर सकूँ। अवश्य ही मेरी यह इच्छा है कि 'साहित्य-सम्बन्धी' अपने मन्तव्यो का एक पूर्ण विवरण आगे कभी प्रकाशित करूँ। लेकिन यह कब सम्भव होगा, कहना कठिन है। विलम्ब से एक लाभ यह भी है कि मेरे साहित्य-सम्बन्धी विचार और अधिक प्रौढ रूप ले सकें, तथा एक सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि का अग बन सकें। अपने साहित्यिक

सिद्धान्तो को ऐसा रूप देने का आंशिक प्रयत्न 'दि फिलासफी ऑफ कल्चर' नामक पुस्तक की तैयारी के रूप में होता रहा है। लेकिन 'साहित्य' पर वैसी पुस्तक के प्रकाशन से भी इन निबन्धों की उपयोगिता कम नहीं होगी; कारण यह है कि साहित्यिक समस्याओ के विभिन्न पहलुओ पर जितने विस्तार से इन स्वतन्त्र निबन्धो में विचार किया जा सका है, वैसा करने का अवसर फिर नही मिल सकेगा।

मै ऑल-इण्डिया रेडियो, लखनऊ का कृतज्ञ हूं, जिसने मुझे वहाँ से प्रसारित तीन वार्त्ताओ को संग्रह में समावेशित करने की आज्ञा प्रदान की। 'एक भूमिका' के लिए वैसी ही अनुमति प्रदान करने के लिए मै 'राजकमल प्रकाशन' के प्रति भी आभारी हूँ।

लखनऊ
३० जून, १९५४

देवराज

विषय-सूची

: १ :

हिन्दी-समीक्षा : एक दृष्टि

खडी बोली हिन्दी के साहित्य की भांति हिन्दी आलोचना का इतिहास भी बहुत छोटा है। प० रामचन्द्र शुक्ल सहज ही इस इतिहास के प्रवर्त्तक कहे जा सकते हैं। आधुनिक हिन्दी आलोचना की प्रायः सभी प्रवृत्तियां शुक्ल जी की रचनाओ में विद्यमान हैं। शुक्ल जी की समीक्षाओ के तीन मुख्य पहलू हैं: ऐतिहासिक एव समाज-शास्त्रीय, विश्लेषणात्मक और आदर्शवादी। उन्होने जायसी, सूर, तुलसी आदि के काव्य का उनके युगो से सम्बन्ध जोडने का प्रयत्न किया है तथा उसे लोक-मगल की कसौटी पर कसा है, साथ ही उनकी कृतियो का विशुद्ध कलात्मक विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। इन दृष्टियों से हम शुक्ल जी को एक महान् क्लासिकल समीक्षक कह सकते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि शुक्ल जी साहित्य के मूल्यांकन में मख्यतः प्राचीन शास्त्रीय मानों का प्रयोग करते हैं, ऐसा तो उनके पूर्व और वाद में भी दर्जनों क्षुद्र आलोचको ने किया है। मतलव यह है कि शुक्ल जी में क्लासिकल साहित्य की विकसित रस-संवेदना है, और इस संवेदना को वे उपयुक्त गरिमा और गम्भीरता के साथ व्यक्त कर सकते हैं।

शुक्ल जी एक परम्परावादी समीक्षक जान पडते हैं। इसके मुख्यतः दो कारण हैं—एक यह कि उन्होने भरसक पुराने अलकार-शास्त्रो की पदावली का प्रयोग किया, नये व्याख्या-सूत्रो की उद्‌भावना नहीं की। जहां वे मौलिक थे वहां भी उन्होंने यही आभास दिया कि वे प्राचीन सिद्धान्तो के व्याख्याता-मात्र हैं। वस्तुतः वे इसी में देश का गौरव समझते थे कि प्राचीन साहित्यशास्त्र को पूर्ण प्रमाणित किया जा सके। दूसरे, मर्यादावाद का अर्थ वे प्राचीन वर्ण-व्यवस्था, भक्तिवाद आदि का परिपालन या अभ्यास मानते थे। इस सम्बन्ध में कवीर आदि संतों की उच्छृङ्खल या स्वतन्त्र मनोवृत्ति उन्हें पसन्द न थी।

शुक्ल जी ने साहित्य की सामाजिक सार्थकता पर गौरव दिया।

गीत काव्य की अपेक्षा वे उस काव्य को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते थे जिसमें सम्पूर्ण जीवन का चित्र हो। उनकी दृष्टि में तुलसी सूर से बड़े हैं, क्योकि सूर केवल सौंदर्य के अनुरागी हैं जब कि तुलसी के राम शक्ति, सौंदर्य और शील के परिपूर्ण आदर्श हैं।

यह विचित्र बात है कि शुक्ल जी का आदर करते हुए भी समकालीन लेखको ने उनके आदर्शों को स्वीकार नहीं किया। बात यह है कि युग का वातावरण शुक्ल जी के सास्कृतिक विचारों का विरोधी था। गांधी जी के देश में उस समय शक्ति का महत्व-स्थापन समीचीन नहीं लग सकता था; और आर्य समाज के आन्दोलन ने विचारशीलो के मन पर अवतारवाद और सगुणोपासना की स्थूलता अकित कर दी थी। उधर हिन्दी कवियो पर रवीन्द्र एवं रोमांटिक गायकों का प्रभाव पड़ा। उदार सन्तकवियो के प्रति भी, जिनकी वाणी जनतन्त्र के अनुकूल थी, शिक्षितो का मनोभाव बदला।

किन्तु हमें आलोचना की बात करनी है। छायावादी युग में समाज-शास्त्रीय एव ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रायः लुप्त दीख पडता है। छायावाद के प्रशसको ने शुक्लजी के विरुद्ध, गीत-काव्य को महत्व दिया। श्री नन्द-दुलारे बाजपेयी, और बाद में डा नगेन्द्र जैसे समीक्षकों ने, छायावादी काव्य की विश्लेषणात्मक आलोचना प्रस्तुत की, अर्थात् वह आलोचना, जो मुख्यत. कलात्मक सौष्ठव और शक्ति को आँकती है। किन्तु छायावाद की प्रशसा का एक दूसरा पहलू भी था, यह कि वह काव्य आध्यात्मिक और रहस्यवादी है। इस दूसरी दृष्टि ने छायावाद के कलात्मक विश्लेषण में बाधा भी पहुँचाई। छायावाद की अभिव्यक्तिगत अशक्तियो की, उसके धुन्ध और कुहासे की, उसकी दुरूह कल्पनाओं तथा हल्केपन की रहस्यवाद के नाम पर प्रशस्ति और दार्शनिक व्याख्याएँ की गईं। इस धांधलेबाज़ी से क्षुब्ध होकर ही आचार्य शुक्ल को 'काव्य में रहस्यवाद' की रचना करनी पडी। आध्यात्मिकता के दावे और उसके बल पर प्रशस्ति की कामना का अच्छा निदर्शन महादेवी जी के निबन्धों में मिलता है। छायावाद के सम्बन्ध में महादेवी जी का मुख्य दावा यही है कि वह सास्कृतिक दृष्टि से रीति-कालीन काव्य से उच्चतर है।

आस्तिक शुक्ल जी रहस्यवादिता के दावे को सीधे अस्वीकार नहीं कर सकते थे। अत उन्होने भक्तकवियो का सहारा लेते हुए एक निराला मन्तव्य सामने रखा—कि काव्य व्यक्त के सचरण का क्षेत्र है, अव्यक्त के नहीं। अल्प-विकसित हिन्दी-आलोचना के इतिहास में यह दूसरी धांधलेबाज़ी

थी, यद्यपि शुक्ल जी का मन्तव्य सर्वथा निराधार नहीं था। ब्रह्म भले ही अव्यक्त और अमूर्त हो, पर ब्रह्म-विषयक भावनाएँ स्पष्ट ही मूर्त और व्यक्त जीवन-स्पन्दन का भाग हो सकती हैं।

बात यह थी कि छायावादियो के पास कोई स्पष्ट सामाजिक दर्शन, सामाजिक आदर्श या सन्देश न था, फलत. वे रहस्यवाद के नाम पर शिक्षित समाज को और स्वय अपने को भलावा देने लगे। रावीन्द्रिक तथा जनतान्त्रिक मानववाद का आदर्श उनके उपचेतन में सजग था, पर शायद आस्तिक भारतीय जनता के लिए उस समय वह पर्याप्त नहीं समझा गया।

वस्तुत छायावादी काव्य, नैतिक धरातल पर, जनतान्त्रिक समत्वभावना और व्यक्ति की महत्त्व-घोषणा का काव्य है। सामन्ती राजा-रानियो के चरित्र के स्थान पर वह साधारण मनुष्य के साधारण मनोभावो और आकाक्षाओ को प्रतिष्ठित करता है। महादेवी जी कहीं कह गई हैं कि आज का साहित्यकार अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख लेना चाहता है। यह वक्तव्य छायावाद की व्यक्तिवादी 'स्पिरिट' को प्रकट करता है, उसमें ब्रह्म और रहस्यवाद के महत्त्व का कोई सकेत नहीं है। नि.सदेह छायावाद इहलौकिक प्रेम और सौंदर्य-भावना का काव्य है। प्रकृति में चेतन सत्ता का आरोप, और प्रेम-निवेदन को ब्रह्म-विषयक घोषित करना, यह कहने का एक ढग-मात्र है कि छायावादी कवि का इन चीजों में अनुराग है। अन्तत. काव्य-साहित्य का विषय मनुष्य का जीवन और स्वय मानवी भावनाएँ ही हैं, और काव्य का उच्चतम धरातल होता है, दैवी या पारलौकिक नहीं।

आश्चर्य की बात है कि छायावाद के प्रगतिवादी समीक्षक भी उसका उचित समाज-शास्त्रीय विश्लेषण नहीं कर सके। छायावाद के विरोध की झोक में उन्होने कहा कि वह काव्य पलायनवादी है। छायावादी काव्य की विषय-वस्तु वैयक्तिक है, सामाजिक नहीं; पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह पलायनवादी है। सच यह है कि जीवन से पलायन करके कोई काव्य क्षण भर भी टिका नहीं रह सकता। कविता के सकट के इस युग में छायावादी काव्य का महत्त्व और भी स्पष्ट दीख पडता है। पलायनवादी काव्य हरगिज भी ऐतिहासिक महत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता। अन्तत. जीवन के किसी अग का घना परिचय और उसके महत्त्व का विश्वास ही साहित्य सृष्टि की प्रेरणा दे सकते हैं। आधुनिक कवियों में 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त-सगीत' के गायक बच्चन का दृष्टिकोण सबसे अधिक निषेधात्मक और निराशावादी रहा है, पर बच्चन के काव्य में भी जीवन के उन मूल्यों की स्वीकृति प्रतिफलित है जिनके अभाव

ने कवि को गीत-सृष्टि की प्रेरणा दी है। अवश्य ही छायावाद में जीवन के कुछ पक्षों से कतराने की प्रवृत्ति है, अर्थात् उसके संघर्ष-मूलक और मांसल पक्षों से, इसीलिए वह एकांगी है; किन्तु उसका महत्त्व प्रेम और सौन्दर्य की उन भावनाओं के कारण है जिन्हे उसने अभिव्यक्ति दी है। निश्चय ही छायावाद ने हिन्दी-साहित्य की जीवन-चेतना को कुछ दिशाओ में समृद्धि किया है।

अब हम प्रगतिवादी समीक्षा को लें। अपने एक निवन्ध (साहित्य की परख) में श्री शिवदान सिंह चौहान ने शुक्ल जी की कड़ी आलोचना की है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि काव्य-साहित्य के प्रगतिवादी दृष्टिकोण और शुक्ल जी के दृष्टिकोण में गहरी समानताए हैं। दोनो इस बात पर जोर देते है कि साहित्य की विषय-वस्तु सामाजिक होनी चाहिए, उसका कर्म-जगत् से सम्बन्ध होना चाहिए, और यह कि साहित्यकार को लोक-मगल की साधना करनी चाहिए। अवश्य ही लोक-मंगल के स्वरूप और साधनो के सम्बन्ध में उक्त दृष्टियों में आकाश-पाताल का अन्तर है: शुक्ल जी प्राचीन वर्ण-व्यवस्था के कायल है, प्रगतिवादी मार्क्सीय साम्यवाद के। किन्तु आलोचना की दृष्टि से यह अन्तर बाहरी ही कहा जा सकता है। अपनी 'प्रगति और परम्परा' पुस्तक में कुछ प्रश्नो का उत्तर देते हुए, डॉ० रामविलास शर्मा ने प्रगतिवाद की मान्यताओं का बडा स्पष्ट विवेचन किया है। वह कहते है:

(१) "साहित्य की प्रगतिशीलता का प्रश्न वास्तव में समाज पर साहित्य के शुभ और अशुभ प्रभाव का प्रश्न है।" (पृष्ठ ४६) "प्रगतिशील साहित्य वह है जो समाज को आगे वढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है।" (वही)

(२) "प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है जब वह साहित्य भी है।" (पृष्ठ ५०) "यदि वह (साहित्य) मर्मस्पर्शी नहीं है, पढ़ने वाले पर उसका प्रभाव नहीं पडता, तो सिर्फ नारा लगाने से या प्रचार की वात कहने से वह श्रेष्ठ साहित्य तो क्या साधारण साहित्य भी नहीं हो सकता।" (वही)। डॉ० शर्मा ने स्वीकार किया है कि वगाल के अकाल से सम्बद्ध अधिकांश रचानाएँ मार्मिक नहीं हो सकी है।

(३) यह कहना ग़लत है कि 'श्रेष्ठ साहित्य सदा प्रगतिशील होता है।' अर्थात् साहित्य में प्रगतिशीलता और श्रेष्ठता समानार्यक नहीं है।

साराश यह कि प्रगतिवादी उस अच्छे साहित्य को पसन्द करता है जो जनहित का साधक हो। इस मन्तव्य में कोई ऐसी वात नहीं जो किसी निष्पक्ष

और समझदार व्यक्ति को अग्राह्य हो। फिर क्यों कुछ ईमानदार और अच्छे साहित्यिक प्रगतिवाद से घबराते और उसे आशका और सन्देह की दृष्टि से देखते नजर आते हैं ? और क्यो ऐसा लगता है कि आज हमारी आलोचना और साहित्य में उलझन और अराजकता-सी फैली हुई है ?

उत्तर में मेरा निवेदन है कि दो कारणो से। एक कारण प्रगतिवादी साहित्य-दृष्टि की कुछ कमिया हैं, और दूसरा प्रगतिवादी आलोचको का तर्ज-अमल। इन दोनो पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

पहले हम प्रगतिवाद की मान्यताएँ लें। प्रगतिवाद का अनुरोध है कि साहित्य की विषय-सामग्री सामाजिक जीवन होना चाहिए, वैयक्तिक नहीं ; सामाजिक जीवन का चित्र होना चाहिए, अर्थात् व्यक्ति के सुख-दुःख एव उन भावनाओ का जिनका मूल सामाजिक व्यवस्था में है। शुक्लजी ने भी कुछ ऐसा ही कहा था। किंतु शुक्लजी ने वैयक्तिक प्रगीत-काव्य का बहिष्कार नहीं किया, सिर्फ यह कहा कि ऐसे काव्य से प्रबन्ध-काव्य श्रेष्ठ होता है। इस दृष्टि से प्रगतिवादी सिद्धान्त अधिक अतिरंजित है। किन्तु क्या प्रबन्ध-काव्य आवश्यक रूप में गीत-काव्य से श्रेष्ठतर होता है ? क्या कालिदास का 'मेघदूत' श्रेष्ठ-काव्य नहीं है ? और क्या रवीन्द्र को 'मेघनाद वध' अथवा 'साकेत' के रचियता से आवश्यक रूप में छोटा कहना पड़ेगा ? इसके उत्तर में प्रगतिवादी कहेगा—प्रगीत-काव्य की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य लोकहित का अधिक सम्पादन कर सकता है और इसलिए अधिक ग्राह्य है। किन्तु क्या काव्य अपनी आनन्द देने की, अस्तित्व प्रसार करने की, जीवन-यात्रा को सरस-सस्कृत बनाने की शक्ति द्वारा भी जन-हित का साधन नहीं करता ? वस्तुस्थिति यह है कि प्रगतिवादी जनहित और सामाजिकता के बारे में कुछ कट्टर मान्यताएँ रखता है और उनके सम्बन्ध में दूसरो के विचारो एव चिन्तन-प्रयत्नों को घोर सन्देह की दृष्टि से देखता है। उसके अनुसार सामाजिक जीवन का मूल रूप है आर्थिक व्यवस्था, और शोषक-शोषितो का सम्बन्ध। साहित्य में प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष आदि का चित्रण हो यह बुरी बात नहीं, बल्कि अनिवार्य है; पर इस चित्रण को यह प्रतिफलित करना चाहिए कि इन सब विकारों के मूल में आर्थिक व्यवस्था और वर्गों का सम्बन्ध है। साहित्य ही नहीं, विभिन्न शास्त्रों या विज्ञानों द्वारा भी प्रगतिवाद उक्त मार्क्सवादी सिद्धान्तो का समर्थन चाहता है। फ्रायड के सिद्धान्तो को लक्ष्य करके डॉ० रामविलाश शर्मा कहते हैं—"जो मनोविज्ञान समाज को छोडकर व्यक्ति के अन्तर्मन का विश्लेषण करने का प्रयत्न करता है, वह अपने विज्ञान को पहले से ही अवैज्ञानिक करार देता है।" (वही, पृष्ठ ६२)

प्रसिद्ध यूरोपीय समीक्षक ल्यूकैक्स ने अपनी पुस्तक Studies in European Realism में बाल्ज़ाक, स्टेण्ढल और टॉल्स्टॉय को ज़ोला से श्रेष्ठतर बताते हुए कहा है कि पूर्व तीनों लेखक अपने पात्रो को सामाजिक पृष्ठभूमि में चित्रित करते हैं जब कि ज़ोला मुख्यत. उनके प्राइवेट, व्यक्तिगत जीवन पर दृष्टि रखता है। इसलिए ल्यूकैक्स बाल्ज़ाक आदि को यथार्थवादी और ज़ोला को प्रकृतिवादी (Naturalistic) लेखक घोषित करता है। इस लेखक ने 'समाज पर शुभ या अशुभ प्रभाव' की कसौटी का स्थूल रूप में प्रयोग नहीं किया है।

सक्षेप में, मार्क्सवाद या प्रगतिवाद अरस्तू के इस मन्तव्य को कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, शत-प्रतिशत रूप में स्वीकार करता है। साथ ही वह यह भी कहता है कि मनुष्य की सम्पूर्ण नैतिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक हलचल के, विशेषतः महत्त्वपूर्ण हलचल के मूल में आर्थिक व्यवस्था या सम्बन्ध रहते ह।

उक्त मन्तव्य में सचाई का काफी अंश है, इसीलिए उसकी अव्याप्ति या एकांगिता का निर्देश करना सरल नही है। फिर भी हम अपनी शकाओ को निरूपित करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रगतिवादी आलोचक साहित्य की समाज-शास्त्रीय समीक्षा और परीक्षा के हामी हैं। प्रश्न यह है—क्या मन की प्रत्येक अवस्था और साहित्य की प्रत्येक अभिव्यक्ति का सामाजिक हेतु अथवा समकालीन समाज व्यवस्था से सम्बन्ध होता है ? यदि हाँ, तो फिर किसी साहित्य की यह शिकायत करना कि वह सामाजिक नहीं है, ग़लत है; यह स्वय अपने सिद्धान्त का खण्डन करने के समान है। और यदि कोई साहित्य ऐसा हो सकता है जिसका समाज-व्यवस्था अथवा सामाजिक परिस्थितियों से आवश्यक लगाव नहीं है, तो यह अनुगत होता है कि सब प्रकार के साहित्य की समाज-शास्त्रीय छानबीन सम्भव नहीं है।

एक दूसरा प्रश्न यह है कि एक समाज-व्यवस्था में लिखे हुए अच्छे साहित्य का—जैसे कालिदास और शेक्सपियर के नाटको का—दूसरी समाज-व्यवस्था में साधारणीकरण कैसे सम्भव हो जाता है ? इसी प्रकार यह कैसे सम्भव होता है कि एक वर्ग के साहित्य में दूसरा वर्ग रस ले सके ? क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि साहित्य जिस समाज अथवा प्रकृति पर आधारित है उसकी जडें आर्थिक सम्बन्धों से ज्यादा गहरी हैं ?

और इसका क्या कारण है कि तथाकथित असामाजिक काव्य-साहित्य का भी, जैसे कालिदास के 'मेघदूत' का, गहरे अर्थ में साधारणीकरण हो जाता है ?

यह नोट करने की वात है कि ल्यूकैक्स ने डास्ताएव्स्की जैसे लेखको के, जिनके पात्रो का सुख-दुःख आर्थिक से अधिक मनोवैज्ञानिक कारणो पर निर्भर रहता है, विश्लेषण का, अर्थात् उनके महत्त्व की व्याख्या का, कोई प्रयत्न नही किया है। और उक्त समीक्षक का पैमाना टॉल्स्टॉय की कृतियो के उन अशो के महत्त्व की विलकुल ही व्याख्या नहीं कर सकता जो किसी भी तरह किसी समाज-व्यवस्था से सम्बन्धित नही किये जा सकते—जैसे युद्ध-क्षेत्र में घायल पडे हुए एण्ड्रयू का सुनील आकाश की अनन्तता का भावन करना और यह अनुभव करना कि नेपोलियन नाम का प्राणी, और समस्त युद्धाडम्वर, नितान्त क्षुद्र वास्तविकताएँ हैं। कवीर के निम्न दोहो में भी कुछ ऐसी ही अनिर्वचनीय गरिमा है :

> कविरा गर्व न कीजिए, काल गहे कर केस।
> ना जाने कित मारिहै, क्या घर क्या परदेस॥
> पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जात।
> देखत ही छिप जायगी, ज्यो तारा परभात॥

कुछ ऐसे ही 'मूड' में, शायद हाली ने कहा है

> ज़ीस्त का एतबार क्या हाली
> आदमी बुलबुला है पानी का ।

आज की दुनिया में यह प्रचलित सिद्धान्त है कि साहित्य ही नही मनुष्य का सारा ज्ञान-विज्ञान तात्कालिक सामाजिक परिस्थितियो से प्रभावित होता है। मार्क्सवाद के अनुसार हमारे सारे सास्कृतिक प्रयत्न शासक-वर्ग के स्वार्थो के पोषक और उनके दृष्टिकोण को प्रतिफलित करने वाले होते है। अवश्य ही इस मन्तव्य में सत्य का अश है। साथ ही यह भी एकदम असंगत नहीं कि कल्पनाशील मनुष्य, जो इतिहास की अनेक परम्पराओ की अवगति प्राप्त कर लेता है, अपने को विशिष्ट वातावरण की सीमाओ के ऊपर उठा सकता है, और उस समय वह इस या उस समाज या वर्ग के सदस्य के रूप में नहीं, अपितु विशुद्ध इतिहासातीत या इतिहास-द्रष्टा पुरुष के रूप में, मानव-सम्बन्धी स्थायी सत्यों का साक्षात्कार करता है। यदि ऐसा नहीं है तो क्यो आज भी हम प्राचीन महाकवियों और नीति-चिन्तकों की अन्तर्दृष्टि से चकित और प्रभावित होते हैं ? क्यो आज भी होमर और महाभारत, अरस्तू और चाणक्य अपनी मार्मिक उक्तियो से हमें विस्मयान्वित और अभिभूत कर देते है। आदिपर्व में धृतराष्ट्र को आश्वासन देते हुए मन्त्री कणिक ने जीवन में तथाकथित सफलता प्राप्त

करने वाले चतुर पुरुष-पुङ्गवो का जो चित्र खींचा है वह आज भी उतना ही सत्य है :

नित्यमुद्यतदड. स्यान्नित्य विवृतपौरुष. ।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी स्यात्परेषा विवरानुगः ॥
वहेदमित्र स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः ।
तत. प्रत्यागते काले भिंद्याद् घटमिवाश्मनि ॥
प्रहरिष्यन् प्रिय ब्रूयात् प्रहरन्नदि भारत ।
प्रहृत्य च कृपायीत शोचेत च रुदेत च च ॥
वाचा भृश विनीत' स्याद् हृदयेन तथा क्षुरः ।
स्मितपूर्वाभिभाषी स्यात्सृष्टो रौद्रेण कर्मणा ॥
नाछित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम् ।
ना हत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥

अर्थात् 'हमेशा डण्डा तैयार रखे, और पौरुष प्रकट करता रहे। दूसरो की कमजोरियाँ देखे, और उन से फायदा उठावे, स्वय छिद्रमुक्त हो। समय पड़ने पर शत्रु को कन्धे पर बिठा कर ले जाय, मौका आने पर उसे वैसे ही तोड़ दे जैसे पत्थर पर घड़ा। प्रहार करना हो तो मीठा बोले, प्रहार करते हुये ज्यादा मीठा, प्रहार करके करुणा प्रकट करे और रोये। वाणी से नम्र हो, हृदय से छुरे-जैसा, भयकर कर्म करना हो तो मुस्करा कर बात करे। दूसरों का मर्म-छेदन किये बिना, भ कर कर्म किये बिना, मछुए की भाति हत्या किये बिना—कोई धनी नहीं बनता।'

इन पद्यों का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि महाभारतकार हमें दम्भी और क्रूर बनने की प्रेरणा दे रहे है। जिस महाभारत में ऐसे श्लोक है उसी में भगवद्गीता-जैसी चीजें भी है। अत्यन्त ऊँची और नितान्त निकृष्ट, दोनों मनोवृत्तियो के पूर्ण चित्र महाभारत में पाये जाते हैं। महाभारतकार किसी हल्के अर्थ में आदर्शवादी नहीं है।

ल्यूकैक्स ने अपनी पुस्तक में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं उठाया है—क्यो टॉल्स्टॉय, जिनके कुछ विचार (उक्त लेखक के अनुसार) उतने सही नहीं है, गोर्की (और बाल्ज़क) की अपेक्षा एक महत्तर कलाकार है ? ल्यूकैक्स ने इस तुलनात्मक सत्य को महसूस किया है, यद्यपि स्पष्ट शब्दो में कहा नही है। यदि वह इस स्थिति पर विचार करता तो सम्भवत साहित्य के बारे में कुछ और महत्त्वपूर्ण तथ्य देख पाता। तब शायद वह देखता कि टॉल्स्टाय के पात्र सामाजिक होते हुए भी, सामाजिक संघर्षो में पड़ते हुए भी, गोर्की

(तथा बाल्ज़क) के पात्रों से अधिक व्यापक मनुष्यत्व की भूमि पर चित्रित हुए हैं। टॉलस्टॉय में अपने समाज को सम्पूर्णता में देखने और चित्रित करने की क्षमता तो गोर्की के समान है ही, साथ ही वह मनुष्य के उस रूप को भी देख सकते हैं जो सामाजिक क्रियाओं में नि.शेष नहीं होता—वर्गों और व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उसका विराट् द्रष्टा और महामानव का रूप, वह रूप जिसमें उसकी चेतना और अभिरुचि का केन्द्र सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अथवा मानव जगत् की असीमता होती है, और जिस रूप में वह वैयक्तिक एव वर्गगत स्वार्थों तथा प्रश्नो से कहीं ऊपर उठकर स्वय मानव-जीवन का अर्थ और लक्ष्य स्थिर करना चाहता है। मैं मानता हूँ कि इस प्रकार की निर्व्यक्तिक (या निर्वैयक्तिक) महत्ता स्वय मानव-प्रकृति का अग है—वह छोटे-से-छोटे मनुष्य में मौजूद है—तभी तो उसे अभिव्यक्ति देने वाले साहित्य का साधारणीकरण सम्भव होता है। कलाकार की अनुभूति की इस विशेषता को मैं 'रिलीजिओ-फिलॉसफिक' (धार्मिक-दार्शनिक) वृत्ति कहूँगा। टॉल्स्टॉय गोर्की और बाल्ज़क से वृहत्तर और महत्तर कलाकार हैं क्योंकि वे सामाजिक-नैतिक धरातल के कलाकार होने के साथ-साथ दार्शनिक-धार्मिक कलाकार भी हैं। कहना न होगा कि इन दोनो महत्त्वपूर्ण वृत्तियो का आस्तिकता अथवा नास्तिकता से कोई आवश्यक लगाव नहीं है।

प्रगतिवादी (तथा अन्य आदर्शवादी आलोचक) कभी-कभी यह सकेत देते पाए जाते हैं कि साहित्यकार जीवन की कुछ छवियो का चित्र खींचे, कुछ का नहीं। इसके विपरीत हमारा विचार है कि मानव-प्रकृति का कोई भी सत्य एकान्त हेय नहीं है। आधुनिक यूरोप के लेखक प्रायः गर्भिणी स्त्री का वर्णन नहीं करते, किन्तु कालिदास तथा अन्य भारतीय कवियो ने किया है। जिस प्रकार श्रेष्ठ दार्शनिक विश्व की समग्रता का अनुचिन्तन करता है, वैसे ही श्रेष्ठ कलाकार समग्र जीवन का। और इस व्यापक अनुचिन्तन के धरातल पर ही वह आदर्श जीवन के व्यापक-विपुल रूप का सकेत करता है। एकपक्षी कलाकार कभी जीवन की सम्पूर्णता का नियामक नहीं बन सकता। वह पाठक का पूर्ण विश्वास और आत्मीयता भी नहीं प्राप्त कर सकता, जो उसके वास्तविक हृदय-परिवर्तन के लिए ज़रूरी है। पाठक से यथार्थ को छिपाकर उपदेश देने की प्रवृत्ति को मैं हल्का आदर्शवाद कहता हूँ। यह आदर्शवाद वस्तुत. सफल नहीं होता। महान् आदर्शवादी गाधी जी के अनुयायियो का, स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद का नाटकीय कायापलट इसका प्रमाण है।

मैं एक क्षेत्र का उदाहरण दू। साहित्यकार को कहां तक नर-नारी के शारी-

रिक आकर्षण और सम्बन्ध की बात करनी चाहिए ? कालिदास, भारवि और माघ के काव्यो में सैकडो शृंगार-चित्र है, जिनमें कुछ अश्लील भी कहे जा सकते है, क्या इन कवियो ने ऐसा काव्य लिखकर अनुचित काम किया है ? मै एक दूसरा प्रश्न पूछूँ—क्या हमारे युवक-युवतियो को वात्स्यायन के काम-सूत्र जैसी पुस्तकें पढ़नी चाहिएँ ? और क्या एक सभ्य देश में ऐसी पुस्तकें लिखी जानी चाहिएँ ? क्या प्राचीन भारत, जिसमें भारवि, वात्स्यायन आदि हुए थे, एक सभ्य देश था ? आप में से कुछ लोग इन प्रश्नो का 'हाँ' में उत्तर देते हुए भी कहना चाहेगे—लेकिन आज की परिस्थिति में हम ऐसे काव्य को प्रोत्साहन नहीं देना चाहते। विद्यापति और सूर का समय और था, अब ज़माना दूसरा है।

मेरा उत्तर है, जमाना दूसरा हो, पर मानव-प्रकृति प्रायः वही है। और क्या सचमुच जमाना दूसरा है ? क्या आप नहीं जानते कि युग में आज के सिनेमा-घरो तथा बम्बई, दिल्ली, लखनऊ आदि के नागरिक जीवन में कैसा वातावरण है ? यह वातावरण विशेष मनोवृत्तिया जगाता है। प्रश्न यह है—क्या आप इन मनोवृत्तियो के बनने-बिगडने की समस्या वातावरण पर ही छोड देंगे, या उसमें साहित्यकार का सहयोग भी लेंगे ? और यह सहयोग आप जिम्मेदार साहित्यकारो से लेंगे—उनसे जो वर्तमान और भविष्य के आलोचको की परवाह करते है, या उनसे जो उत्तेजक साहित्य बेचकर सिर्फ पैसा कमाना चाहते है ? और मै बतलाऊँ—जिम्मेदार साहित्यकार वातावरण की सचाई को कुछ हद तक प्रत्यक्ष करके ही अपना काम कर सकता है। सेक्स और अर्थसचय के क्षेत्र में कुछ मनोवृत्तियाँ आज के वातावरण में बन रही है, उन मनोवृत्तियो को नैतिक परिधि में लाने के लिए यह जरूरी है कि साहित्यकार नये मनुष्य की नई दुर्वलताओ और विवशताओ को समझने का प्रयत्न करे। ऐसा कर के ही वह अपेक्षित नई नैतिक मनोवृत्ति उत्पन्न कर सकता है। यदि ऐसा न हो सका, तो एक भयकर नैतिक शून्यता हमारे समाज को ध्वस्त कर देगी, क्योकि नये वातावरण में पुरानी नैतिक मान्यताओ को जीवित रख सकना स्वय विधाता के लिए भी सम्भव नहीं है।

जिसे जीवन-विवेक कहते है वह किसी व्यक्ति या जाति को लम्बी एवं अनवरत साधना से मिलता है। असली विवेक जीवन के तथ्यों की विस्तृत चेतना पर आधारित होता है, तथ्यो की अनदेखी पर नहीं। वाल्मीकि के राम ने सीता-हरण के बाद दो स्थलो में कहा है—"मुझे चिन्ता इस बात की है कि सीता का यौवन ढल जायगा।" हम में से कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि तुलसी

के राम कभी ऐसा सोच भी सकते हैं। किन्तु क्या सचमुच यह कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में वाल्मीकि की अपेक्षा तुलसी ने अधिक जीवन-विवेक का परिचय दिया है ? तुलसीदास कालिदास से अधिक ज्ञानी हो सकते हैं, पर क्या सचमुच कालिदास में उन से अधिक कलात्मक विवेक नहीं है—वह विवेक, जिसके द्वारा एक जाति समृद्ध, रसपूर्ण जीवन-व्यतीत कर सकती है ? मैं हिन्दी लेखकों से कहना चाहता हूँ कि वे अपने देश की प्राचीन 'क्लासिक्स' की उपेक्षा न करें, और ह्रासकालीन हिन्दी-साहित्य की अपेक्षा उस संस्कृत-साहित्य से अधिक प्रेरणा लेने का प्रयत्न करें जो समुन्नत भारत में लिखा गया था। संसार के बिरले ही देशों को ऐसी समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर प्राप्त है।

अब हम प्रगतिवादी समीक्षा के व्यावहारिक रूप को देखें। डॉ० रामविलास के उद्धरणों में कहा गया है कि प्रगतिशील साहित्य को श्रेष्ठ साहित्य होना चाहिये और यह कि सब श्रेष्ठ साहित्य प्रगतिशील नहीं होता। हम कहेंगे कि श्रेष्ठ साहित्य इस अर्थ में उपयोगी एवं मानव-विकास को आगे ले जाने वाला होता है कि वह जीवन के सार्थक तथ्यों की चेतना जगाता है। वस्तुतः प्रत्येक सांस्कृतिक प्रयत्न चेतना-विकासी होता है, और चेतना का विकास सांस्कृतिक प्रगति का आवश्यक तत्त्व है। लेकिन इस प्रसंग को हम इस समय यहीं छोड़ें। प्रगतिवादियों की व्यावहारिक आलोचना से अक्सर लोगों को यह शिकायत हो जाती है कि वे आलोच्य कृति में श्रेष्ठता के एक ही उपादान की विशेष खोज करते हैं, अर्थात् एक विशिष्ट ढंग की प्रगतिशीलता की। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी आलोचना साम्प्रदायिक रूप धारण करने लगती है। वे तथाकथित प्रगतिशील कृतियों की कलात्मक आसक्ति की उपेक्षा और दूसरी श्रेष्ठ कृतियों की श्रेष्ठता से इन्कार करने लगते हैं। इससे यह जान पड़ने लगता है कि प्रगतिशील समीक्षक समीक्षक नहीं प्रचारक हैं—वे पहले एक सम्प्रदाय के सदस्य हैं, बाद में साहित्य-समीक्षक।

मैं प्रगतिवादी समीक्षा को आदर्शवादी समीक्षा कहूँगा। ऐसी समीक्षा के साथ हमेशा यह खतरा रहता है कि वह साहित्यिक श्रेष्ठता की माँग के स्थान में अपने आदर्शों की माँग रख दे। हमारी समीक्षा में यह माँग शुक्ल जी के समय से ही चली आ रही है। छायावादियों की विश्लेषणात्मक आलोचना इस माँग या भावना से संपृक्त है। इसका एक कुपरिणाम यह है कि हमारी विश्लेषणात्मक आलोचना परिपक्व नहीं हो पा रही है। मैं और कहूँ—कोई जाति या साहित्य लम्बी साधना द्वारा ही विश्लेषणात्मक, चेतना-विकासी

समीक्षा को विकसित करता है। अंग्रेजी साहित्य में कई शताब्दियो से ऐसी आलोचना होती आई है, आज भी वहाँ अनेक प्रौढ समीक्षक मौजूद हैं। इस दृष्टि से हिन्दी-समीक्षा बेहद पिछडी हुई है। और इस दृष्टि से प्राचीन भारत के अलकारशास्त्री बहुत आगे वढे हुए थे।

इस प्रकार की सफल समीक्षा के लिए विश्व-साहित्य की 'क्लासिक्स' का निकट और ईमानदार परिचय अपेक्षित है। ईमानदार परिचय से हमारा मतलब है, पूर्वाग्रह से शून्य परिचय। हम 'क्लासिक' साहित्यकारो के निकट मुख्यत' श्रेष्ठ साहित्य की सवेदना प्राप्त करने जायँ, अपने प्रिय मानों के निदर्शन खोजने नहीं। सच यह है कि साहित्यिक मानो की चेतना-प्राप्ति एक ऐसा व्यापार है जो महनीय कृतियों के अध्ययन के साथ लगातार अनुष्ठित होता रहना चाहिए। पूर्वाग्रही आलोचक 'क्लासिक्स' में प्राय वही और उतना ही देख पायगा जितना और जो उसने देखने का सकल्प किया है। इसका फल यह होगा कि क्लासिक्स का अध्ययन उसकी रस-चेतना को विशेष समृद्ध और उर्वर नहीं बना पायगा। मुझे भय है कि अधिकाश प्रगतिवादी आलोचक या तो क्लासिक्स को पढ़ते नहीं या उन्हे ईमानदारी से नहीं पढते। फलतः प्रतिभाशाली प्रगतिवादियों की वाणी में भी वह गहराई और मौलिकता प्राय नहीं आ पाती जैसी शुक्ल जी में पाई जाती है। वे प्राय यन्त्रवत् कुछ मतवादी सूत्रो या नारों का उपयोग करते पाए जाते हैं। इस वातावरण में दूसरे समीक्षक भी गहरी रस-दृष्टि के स्थान में आकर्षक सूत्र बोलने का प्रयत्न करते हैं। फल यह होता है कि आज के अधिकाश आलोचक सस्ती नारेबाजी और निन्दा-स्तुति के अतिरिक्त कुछ और कम कर पाते हैं। वे प्राय. श्रेष्ठ साहित्य के विधायक विविध उपादानो की जीवन्त चेतना से वचित रहते है, और इसीलिए सन्तुलित आलोचना नहीं कर पाते।

किन्तु शायद प्रगतिवादी की एकागिता और कट्टरता उसके विशिष्ट मानदण्ड और जीवन-दर्शन की स्वीकृति के लिए आवश्यक है। मीर ने अपने काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है :

> किसने सुन शेरे मीर यह न कहा,
> कहियो फिर हाय क्या कहा साहब !

मीर के इस शेर को सुनकर वेसारता मुँह से शेर के उत्तरार्द्ध का उद्गार निकल पड़ता है। लेकिन मेरा अनुमान है कि प्रगतिवादी के मुख से ऐसा उद्गार नहीं निकलेगा। निर्विकार, इन्द्रियजयी तपस्वी की भाँति वह पूछेगा, आखिर इस शेर की सामाजिक उपयोगिता क्या है? और उसका अपने समय की आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था में सम्बन्ध भी क्या है? इसी प्रकार विहारी के उस प्रसिद्ध

दोहे 'बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय', को सुनकर वह अतर्कित प्रशसा के भाव से विभोर नहीं हो सकेगा, क्योकि उक्त पद्य की मानव-विकास के लिए कोई बुद्धिगम्य उपयोगिता नहीं है।

लेकिन यह क्या जरूरी है कि जीवन और कला का चरम प्रयोजन बुद्धिगम्य ही हो, और बीसवीं सदी के मध्य भाग तक पूर्णतया समझ ही लिया गया हो ? प्रगतिवादी इस प्रकार के किसी अनर्गल रहस्यवाद को स्वीकार करने को तैयार नही है।

पर क्या यह ठीक है कि प्रगतिवाद का विशिष्ट प्रयोजन एकागी सत्य को स्वीकार करके सिद्ध हो सकता है ?[1] हमें इसमें सन्देह है। हम डॉ० रामविलास के शब्दो में कहे—प्रगतिवादी साहित्य को भी साहित्य होना चाहिए। यदि प्रगतिवादी साहित्य को प्रभावशाली साहित्य बनना है तो उसके लेखको-समीक्षको को यह खोज करनी ही पडेगी कि अतीत के महान् साहित्यकारो ने किस प्रकार अपनी कृतियों को प्रभविष्णु बनाया था।

हमारा अनुमान है कि प्रगतिवाद का विशिष्ट सन्देश तभी प्रभावशील रूप में प्रकट होगा जब उसे जीवन की सम्पूर्ण अकुण्ठित अभिव्यक्ति के बीच ग्रथित और प्रतिष्ठित किया जायगा। इस सम्बन्ध में हमने 'युग और साहित्य' निबन्ध में ('साहित्य-चिन्ता' में) विस्तार में विचार किया है। अन्ततः मार्क्सवाद जीवन के बारे में एक सत्य है, एक-मात्र सत्य नहीं; दूसरे महापुरुषों द्वारा उद्घाटित सत्यों से अलग रहकर नहीं, उनमें गुंथकर ही वह मानवता की महत्त्वपूर्ण धरोहर बन सकेगा।

और इसी प्रकार, पूर्णतया प्रभावशील बनने के लिए, साहित्य-सृष्टि पर उचित प्रभाव डाल सकने के लिए, प्रगतिवादियो को समीक्षक ही नहीं, सहृदय भी बनना पडेगा। उन्हें इतना नैतिक साहस बटोरना होगा कि वे मीर और बिहारी की वाणी की मुक्तकण्ठ से दाद दे सकें। हमारा विश्वास है कि अनुयायियों की सत्य को मानने-कहने की प्रवृत्ति से कभी किसी सम्प्रदाय को हानि नहीं पहुँचती। सच यह है कि वास्तविक प्रगतिवादी कभी कट्टर अर्थ में साम्प्रदायिक नहीं हो सकता।

आर्य-समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने सुधार की झोंक में 'रघुवश', 'रामचरितमानस' आदि काव्यों का बहिष्कार करने का आदेश दिया था। सहृदय विद्वानों ने सादर उनके इस आदेश को अस्वीकृत कर दिया। जिन अनुयायियों ने उसे माना, उन्होंने अपने जीवन की सास्कृतिक सरसता को अनजाने क्षत कर लिया। बिहारी, मीर, विद्यापति और मेघदूत के गायक का बहिष्कार भी अन्ततः

मनुष्य की सास्कृतिक समृद्धि के लिए क्षतिदायक होगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

अब तक हमने जो कहा उससे आप यह निष्कर्ष न निकालें कि हम प्रगतिवाद के विशिष्ट दृष्टिकोण के विरोधी हैं। नैतिक-सामाजिक दृष्टि से प्रस्तुत लेखक का आदर्श प्राय. वही है जो समाजवाद और साम्यवाद का, पर इसके लिए वह मार्क्सवाद के विशिष्ट दर्शन को, अथवा प्रगतिवाद के आलोचनात्मक मानो को, समग्रता में स्वीकार करना जरूरी नहीं समझता—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सच बोलने की उपयोगिता को स्वीकार करने का अर्थ किसी विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय का अनुयायी होना, अथवा ईश्वरवादी होना, नहीं है।

अतिरिक्त टिप्पणी

ऊपर के निबन्ध में प्रगतिवादी मान्यताओं की समीक्षा विशुद्ध वैज्ञानिक 'स्पिरिट' में, साहित्य की रसात्मकता की दृष्टि से की गई है। ल्यूकेक्स ने भी इसी दृष्टि से 'सामाजिक विषय-वस्तु' के मन्तव्य को रखा है। उक्त लेखक के अनुसार उच्चतम साहित्य की विषय-सामग्री सामाजिक जीवन रहा है, और होना ही चाहिए। महाप्राण साहित्य सदा से सामाजिक कशमकश का चित्र खींचता आया है। अत. ऐसे साहित्य में चित्रित पात्र व्यक्तित्वशाली होते हुए भी 'टाइप' होते हैं—अपने युग की संचालक शक्तियो के प्रतीक। हिन्दी में प्रेमचन्द के पात्र ऐसे ही हैं।

हमारा विचार है कि साहित्य में व्यक्त होने वाली अनुभूति की कई सिम्तें, आयान या Dimensions होती हैं। सामाजिक 'डाइमेन्शन' प्रमुख हो सकती है, पर वह एक-मात्र डाइमेन्शन नहीं है। कम-से-कम दो सिम्तें और हैं, विशुद्ध मनोवैज्ञानिक तथा रिलीजियो-फिलॉसफिक (दार्शनिक-धार्मिक)। ये तीनो सिम्तें परस्पर निरपेक्ष न होते हुए भी विविक्त की जा सकती हैं।[1] विश्व के अधिकाश महान् साहित्यकार जिन्होने युग-चित्र दिये हैं, सामाजिक सिम्त में अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न थे। किन्तु दास्ताएव्स्की का महत्त्व मुख्यत. मनोवैज्ञानिक सिम्त की गहरी अनुभूति में है। 'मेघदूत' और रवीन्द्र, शैली आदि की महत्ता का भी यही रहस्य है। रवीन्द्र, गेटे आदि में रिलीजियो-फिलॉसफिक सिम्त की झलकें भी

---

१. 'डाइमेन्शन' के लिए सिम्त शब्द के प्रयोग का सुझाव श्री शिवदानसिंह चौहान से मिला है। 'रिलीजस' और धार्मिक की ध्वनियों मे अन्तर है, पर दूसरा शब्द न मिलने से 'धार्मिक' का प्रयोग करना पड़ा है। अनुभूति की इन सिम्तों के विस्तृत विवेचन का यहाँ स्थान नहीं।

है। शेक्सपियर तथा टॉल्स्टॉय तीनो ही सिम्तो की अभिव्यक्ति में महान् है।

जीवन की समग्रता के प्रति प्रतिक्रिया को हमने दार्शनिक-धार्मिक वृत्ति कहा है। इसी का एक रूप अनास्था और सन्देह है। हमारा अनुमान है कि तथाकथित प्रयोगवादी काव्य युग की उस अनास्थामूलक संवेदना को व्यक्त करने का प्रयत्न है जो विज्ञान द्वारा प्राचीन नैतिक-धार्मिक दृष्टियो के विघटन और महायुद्धो द्वारा उत्थापित नैराश्य के वातावरण से उदभूत हुई है। प्रथम महायुद्ध के वाद यूरोप में भी ऐसे काव्य की लहर आई थी। सिद्धान्तत. हम ऐसे साहित्य के विरोधी नहीं। हम नहीं समझते कि किसी को ठोक-पीटकर, कृत्रिम उपायों से, आस्थावान् एवं आशावादी, अथवा आस्तिक या मार्क्सवादी बनाया जा सकता है। किन्तु हमारा अनुमान है कि शैली-विषयक अतिजागरूकता अथवा अन्य किन्हीं कारणो से प्रयोगवादी काव्य मार्मिक नहीं हो पा रहा है।

निवन्ध में प्रगतिवादी व्यावहारिक आलोचना की समीक्षा कुछ अतिरजित है, सो इसलिए कि उक्त आलोचना की कमियो पर तेज रोशनी पड़ सके। यो हम जानते है कि डॉ० रामविलास ने छायावादी काव्य और कवियो का सहानुभूतिपूर्ण विवेचन किया है, यही वात प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि पर लागू है। विशेषत. प्रस्तुत लेखक को इस दिशा में कोई व्यक्तिगत शिकायत नहीं। 'पथ की खोज' की जो पांचेक महत्त्वपूर्ण समीक्षाएँ ('हस', 'नया साहित्य' और 'प्रतीक' में) निकलीं उनमें श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त और श्री नेमिचन्द्र जैन की समीक्षाएँ उतनी ही एकागिताशून्य थीं जैसी अन्य सहानुभूतिशील आलोचको की।[२] फिर भी हमें दो वातें कहनी हैं। एक यह कि प्रगतिवादी आलोचको को श्रेष्ठ साहित्य के दूसरे (सामाजिकता एवं प्रगतिशीलता से भिन्न) उपादानो की न केवल उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, वल्कि उनके सम्वन्ध में चिन्तन और विचार भी करना चाहिए। दूसरे, जिस लेखक को अन्य समीक्षक (तथा पाठक) अच्छा समझते हैं उसकी श्रेष्ठता से इन्कार करने का उन्हें हठ नहीं करना चाहिए।

जैनेन्द्र और अज्ञेय दोनो ही में सामाजिक यथार्थ का चित्रण कम है, दोनों व्यक्तिवादी है, फिर भी दोनों महत्त्वपूर्ण लेखक हैं—शायद वे अनुभूति की दूसरी सिम्तों को पकड़ते है। इसके विपरीत प्रेमचन्द में 'दार्शनिक-धार्मिक'

---

२. इधर प्रगतिवादी समीक्षकों तथा साहित्यिकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है जो स्वागत के योग्य है। प्रगतिवादियों ने साहित्य के सामाजिक पहलू पर गौरव देकर निःसन्देह हमारी समीक्षा-दृष्टि को समृद्ध किया है।

सिम्त की अनुभूति का अभाव है। देखने तथा विचार करने की बात यह है कि कहाँ तक एक या दूसरी सिम्त से सम्बद्ध अनुभूति की कमी लेखक की कला को कमजोर बनाती है। सम्भवतः सामाजिक अनुभूति उपन्यासकार के लिए सबसे अधिक अपेक्षित है। पर क्या, विभिन्न लेखकों की तुलनात्मक समीक्षा द्वारा, यह दिखाया जा सकता है कि उक्त अनुभूति की कमी-वेशी उनकी दूसरी अनुभव-सिम्तों के उद्घाटन पर भी असर डालती है? अवश्य ही यह कार्य सूक्ष्म तथा गहरे विश्लेषण की अपेक्षा रखता है, फिर भी समीक्षकों को उसका प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे प्रयत्न के विना वे साहित्यकारों अथवा साहित्य-सृष्टि पर गम्भीर प्रभाव नहीं डाल सकेंगे।

: २ :

समाज-शास्त्रीय आलोचना

समाज-शास्त्रीय आलोचना को आलोचना की एक प्रमुख दृष्टि अथवा प्रणाली के रूप में प्रतिष्ठित करने का अधिकाश श्रेय मार्क्सवाद को है। सक्षेप में, समाज शास्त्रीय आलोचना किसी साहित्य-कृति के बारे में दो प्रश्न करती है। एक यह कि उस कृति को जो विशेष रूप प्राप्त हुआ है उसका उस कृति के निर्माण-काल की सामाजिक वास्तविकता से क्या सम्बन्ध है; अर्थात् कहाँ तक उसके उस रूप की व्याख्या तत्कालीन सामाजिक यथार्थ द्वारा हो सकती है। यहां व्याख्या से मतलब है कार्य-कारण रूप व्याख्या का। सामाजिक यथार्थ साहित्यिक कृतियो के विशिष्ट रूपो का कारणभूत होता है। दूसरा प्रश्न, जो समाज-शास्त्रीय आलोचक उठाता है, यह है—कृति-विशेष या आलोच्य कृति का तत्कालीन समाज पर क्या प्रभाव पडा ? उसने सामाजिक जीवन की दिशा को किस प्रकार प्रभावित किया ?

हमने कहा कि समाज-शास्त्रीय समीक्षा-दृष्टि के प्रचार का विशेष श्रेय कार्लमार्क्स के अनुयायियो को है। मार्क्सवाद मानता है कि सब प्रकार की चेतना विभिन्न सत्ताओं द्वारा निर्धारित होती है; सत्ता मौलिक है, चेतना उसका विकार या प्रतिफलन। तत्व-मीमासा (Ontology) में इस सिद्धान्त का मतलब होता है भौतिकवाद, अर्थात् विश्व-सृष्टि में चेतन के ऊपर जड़ की प्रधानता का सिद्धान्त। विश्व-सृष्टि में सामान्यतया जड़-तत्त्व की सत्ता पहले है, चैतन्य अथवा चेतना की बाद को। इस सामान्य सिद्धान्त का ही एक विशेष रूप यह मान्यता है कि सामाजिक चेतना, जिसकी अभिव्यक्ति दर्शन, आचार-शास्त्र, साहित्य आदि में होती है, अपने मूल रूप में सामाजिक सत्ता द्वारा निर्धारित की जाती है। इसका मतलब यह हुआ कि युग-विशेष एवं समाज-विशेष का साहित्य अनिवार्य रूप में अपने देश-काल की वास्तविकताओ को प्रतिफलित करता है। यहां शायद 'अनिवार्य' विशेषण सर्वांश में उपयुक्त नहीं है; यह भी सम्भव है कि एक लेखक या साहित्यकार अपने युग से तटस्थ रहता हुआ

विगत युग की भावनाओ की पुनरावृत्ति करता रहे। लेकिन ऐसा लेखक अपने युग का प्रतिनिधि लेखक न बन सकेगा। उदाहरण के लिए हिन्दी में 'भारतेन्दु' का प्रेम-काव्य और 'रत्नाकर' की कृतियां उनके विशिष्ट युगो की प्रतिनिधि रचनाएँ नहीं हैं।

तो, श्रेष्ठ साहित्य, अथवा वह साहित्य जो ऐतिहासिक महत्त्व को प्राप्त करता है, स्वभावतः युग-जीवन के तत्त्वो से ग्रथित होता है—वह अपने समय के सामाजिक यथार्थ को प्रकट या प्रतिफलित करता है। साथ ही वह युग-जीवन का दिशा-निर्देश भी करता है, वह युग-जीवन को बदलने का अस्त्र भी बन जाता है।

इस 'बदलने' की प्रेरणा को इस साधारण रूप में समझा जा सकता है कि कलाकार जनता में बदले हुए यथार्थ के प्रति नये ढंग से रागात्मक प्रतिक्रिया करने की, अथवा उसके प्रति नये मनोभाव बनाने की, सचेष्टता उत्पन्न करता है। संवेदनशील होने के कारण कलाकार नये वातावरण में नये ढग से प्रति-क्रियाएँ करता है और वह अपनी इन प्रतिक्रियाओं को जनता अथवा पाठकों में संक्रान्त कर देता है। इस प्रकार कलाकार अपने पाठकों को नई रागात्मक स्थितियों से परिचित करता हुआ उनका नये यथार्थ से भावना-मूलक सम्बन्ध जोड़ देता है।

किन्तु मार्क्सवादी आलोचक प्राय 'बदलने' की इतनी मात्र प्रक्रिया से सन्तुष्ट नहीं होते। उनकी साहित्यकार से यह मांग रहती है कि वह जनता अथवा उसकी मनोवृत्ति को एक विशेष ढंग से बदलने की प्रेरणा दे—उन्हें, एक विशिष्ट परिभाषा के अनुसार, प्रगतिशील बनाये। जहाँ समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण का थोडा-बहुत प्रभाव प्रायः सभी देशो के आलोचको पर पडा है वहाँ 'बदलने' की उक्त मांग का समर्थन सर्वत्र नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए जहा टी० एस० इलियट के काव्य की समाज-शास्त्रीय ढग की छानबीन अथवा समीक्षा करने के प्रयत्न हुए हैं वहाँ अधिकाश अग्रेजी आलोचको ने उस काव्य को 'प्रगतिशीलता' की कसौटी पर कसने का प्रयत्न नहीं किया है।

अब हम समाज-शास्त्रीय आलोचना के महत्व और सीमाओं पर अपने विचार प्रकट करें।

'साहित्य-चिन्ता' में हमने आलोचना को रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या वर्णित करते हुए आलोचक के दो मुख्य काम बतलाये हैं—एक, कृति-विशेष को रसमय अथवा नीरस बनाने वाले उपादानों की ओर संकेत करना; और दूसरे, समुचित दृष्टिकोण से उस कृति का मूल्यांकन करना। अन्ततः साहित्य

को रसमय अथवा नीरस बनाने वाली चीज, हमारे मत में, जीवन की अर्थवती छवियो का सफल या असफल सन्निवेश है। संक्षेप में, साहित्य की विषय-वस्तु दो प्रकार की है। प्रथमतः साहित्य बाह्य परिवेश की उन छवियो या स्थितियों को सामने लाता है जो हमारी रागात्मिका प्रकृति को छूती या प्रभावित करती है। दूसरे, साहित्य उन मनोभावों, भावनाओं तथा वृत्तियो को प्रकाशित करता है जो उपर्युक्त स्थितियों द्वारा जगाई जाती हैं। सच यह है कि साहित्य की इस दो प्रकार की विषय-वस्तु को बुद्धि द्वारा विविक्त किया जा सकता है, किन्तु व्यवहार में अलग किया नहीं जा सकता। जहाँ आत्मनिष्ठ कोटि के कलाकार भावनाओ या मनोवृत्तियो को मूर्त करने का अधिक प्रयत्न करते हैं वहाँ वस्तुनिष्ठ कलाकार उन मनोवृत्तियो की प्रेरक परिस्थितियो के विशद चित्र उपस्थित करते है। बात इतनी ही नहीं है। जिसे हम बाह्य परिस्थिति कहते ह वह केवल भौतिक पदार्थों या शक्तियो का संगठन-मात्र नहीं होती—उसमें दूसरे नर-नारियो की भावनाएँ और मनोभाव (Attitudes) भी सम्मिलित होते हैं। उदाहरण के लिए राम के वन-गमन-प्रसंग में कैकेयी की महत्वाकांक्षा, भरत की नि.स्पृहता और मातृ-स्नेह तथा दशरथ, सुमन्त, सीता आदि की भावनाएँ भी परिवेश अथवा बाह्य स्थिति का अग बन जाती है। किन्तु जहाँ कवि स्वय ही वक्ता है, जैसे कि गीतों अथवा अन्य मुक्तक काव्य में, वहाँ यह स्पष्टता से देखा जा सकता है कि वह आत्मनिष्ठ कोटि का कलाकार है अथवा वस्तुनिष्ठ कोटि का। इस दृष्टि से छायावादी तथा प्रयोगवादी काव्य दोनो ही आत्म-परक काव्य कहे जा सकते हैं।

फिर भी अधिक सच यह कहना है कि अधिकांश काव्य में बाह्य और आतरिक वास्तविकताएँ संकुल रूप में व्यक्त या प्रकाशित होती हैं।

तो फिर आलोचक का काम क्या है?

साहित्य-सृष्टि और आलोचना दोनो ही सांस्कृतिक प्रयत्न हैं। संस्कृति के सम्बन्ध में हमारी सामान्य धारणा यह है कि वह अपने विभिन्न रूपों में विशेष दृष्टियो से अर्थवती वास्तविकताओं की चेतना उत्पन्न करने क प्रक्रिया या व्यापार है। साहित्य सांस्कृतिक प्रयत्न है क्योकि वह हममें उस वास्तविकता की चेतना उत्पन्न करता है जो हमारी रागात्मक अन्तःप्रकृति के लिए सार्थकता रखती है। आलोचक एक प्रकार से साहित्यकार का सहकारी होता है। उसे मुख्यत यह निर्देश करना होता है कि साहित्यकार ने जीवन के किस अग को कितनी सफलता से प्रकट किया है। साहित्यकार ने जिन स्थितियों और मनोभावों को पाठक की चेतना में संक्रांत करना

चाहा है उन्हे आलोचक बौद्धिक धारणाओ द्वारा पकड़कर अधिक स्पष्ट और सुलभ रूप में ग्राह्य बना देता है। प्राय साहित्य में निवद्ध छवियों और भावो को साधारण पाठक 'गूंगे के गुड' के समान अर्द्ध-सचेत भाव से ग्रहण करते है। आलोचक का काम इस अर्द्ध-चेतना को पूर्ण-चेतना में परिवर्तित करना है। इस दृष्टि से आलोचना का मुख्य काम आलोच्य कृति की चेतनाविकासी व्याख्या प्रस्तुत करना है। इंगलैंड, फ्रास और अमेरिका आदि के अधिकांश आलोचक आजकल यही कर रहे हैं। वे प्राय. मूल्यांकन से कतराते हैं।

आलोचक के उक्त कार्य में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण किस प्रकार सहायक हो सकता है? बात यह है कि युग की भाव-सवेदना में घुसकर कलाकार ने जो कुछ देखा और महसूस किया है उसका स्पष्टीकरण बड़ा कठिन काम है। पिछले युगों ने जिन वास्तविकताओं और समस्याओं को नहीं देखा उन्हे देखने की शिक्षा हमें समसामयिक स्कूलो अथवा विद्यापीठों से नहीं मिलती। यह शिक्षा हमें नई प्रतिभाए देती हैं। इसलिए प्रतिभाशालियो की नई संवेदनाएं दुरूह लगती है। कुछ क्षेत्रो में कलाकार अनभिव्यक्त जन-चेतना को ही वाणी देता है, ऐसी जगह वह दुरूह नहीं भी लग सकता है। यहां हम 'भी' का प्रयोग इसलिए कर रहे हैं कि कभी-कभी जनता और आलोचक दोनो अपनी असली युगीन भावनाओं को स्वीकार करने से डरते हैं; और उन्हें प्रकट कर देने वाले कलाकारो को रोष-दृष्टि से देखते हैं। किंतु सामान्यतया कलाकार के जटिल मनोभाव जनता को सहज ग्राह्य नहीं होते; वे आलोचको की पकड में भी सरलता से नहीं आते।

अतएव ऐसे भावों के स्पष्टीकरण के लिए आलोचक को घुमावदार रास्ते की शरण लेनी पडती है। यदि आलोचक ने दर्शन, राजनीति, आदि द्वारों से अपने युग का काफी परिचय प्राप्त कर लिया है तो यह वहुत सम्भव है कि वह जटिल साहित्यिक कृतियो की व्याख्या अथवा स्पष्टीकरण कर सके।

दूसरे, समाज-शास्त्रीय दृष्टि कलाकार के मूल्यांकन में भी सहायक हो सकती है। आलोचक पूछ सकता है—कलाकार अपने जटिल युग-जीवन के कितने अंश को अभिव्यक्ति दे सका है? उसने युग-जीवन को कितनी गहराई और व्यापकता में उद्घाटित किया है? कलाकृतियो का रस हम एकान्त में वैठकर लेते हैं, उन्हें हम मुख्यतः आनन्द के लिए पढते हैं। किंतु जव आलोचक उनका सम्वन्ध युग-जीवन से जोड़ता है तो हमें रसानुभूति के

साथ यह चेतना भी होती है कि उन कृतियो का ऐतिहासिक रंगमंच पर होने वाले विराट् परिवर्तनों से सम्बन्ध है। निश्चय ही यह चेतना हमें साहित्य और युग दोनो के समझने में सहायता देती है। आज हमें जान पडता है कि हम समाजशास्त्रीय दृष्टि के बिना साहित्य के पूरे महत्व को हृदयगम नहीं कर सकते।

अब हम देखेंगे कि समाज-शास्त्रीय आलोचना का किस-किस प्रकार दुरुपयोग हो सकता है, और यह भी कि इस प्रकार की आलोचना की सीमाए क्या हैं।

आलोचक का प्रमुख कार्य आलोच्य कलाकृति का स्पष्टीकरण और मूल्यांकन है, हमने ऊपर बताया कि किस प्रकार समाज-शास्त्रीय दृष्टि इन दोनो कामो में सहायक होती है। किंतु जहाँ आलोचक आलोच्य कृति का युग-जीवन से सम्बन्ध जोड़ता है वहाँ वह यह देखने की भी कोशिश करता है कि कलाकार जीवन के किस पहलू को कितनी सफलता से व्यक्त कर पाया है। (इस सफलता की प्रभावपूर्ण चेतना जगाने के लिए ही आलोचक अक्सर अभिव्यक्ति के उपकरणो का विश्लेषण करने लगता है। यह विश्लेषण पाठकों को एक-दूसरे प्रकार की चेतना भी देता है जिसका सम्बन्ध अभिव्यक्ति की प्रक्रिया से ही विशेष रहता है।) समाज-शास्त्रीय आलोचना के साथ मुख्यत. दो खतरे रहते हैं। एक खतरा यह है कि ऐसा आलोचक जीवन के स्थूल सामाजिक रूपो को ही देखें और उसके सूक्ष्मतर स्पन्दनो की उपेक्षा कर डालें। कभी-कभी ऐसे समीक्षक कला-कृतियो का मूल्य आंकने बैठ जाते हें जिनकी रस-सवेदना शिक्षित या विकसित नहीं है, पर जो अच्छे पडित हे। वे जीवन-दर्शन, नैतिक-राज-नैतिक मतवादों आदि पर अधिकार-पूर्वक बोल सकते हैं। क्योकि ये चर्चाए स्वयं अपने में महत्वपूर्ण हैं इसलिए वे यह भ्रम उत्पन्न कर सकती हैं कि आलोचक की बातें बडी महत्वशाली हैं। लेकिन महत्वशालिनी बातें भी अप्रासगिक हो सकती हैं। उदाहरण के लिए छायावादी कवियों के सम्बन्ध में लिखते हुए कुछ आलोचक वेदान्त के सिद्धान्तों का लम्बा-चौड़ा विवरण देकर पाठकों पर आतक जमा लेते हैं। (कामायनी की इस प्रकार की सिद्धात-परक कुछ आलोचाए हमारे देखने में आई हैं, कबीर आदि सन्त कवियों की भी कुछ ऐसी समीक्षाए प्रस्तुत की गई हैं। साहित्यिक अर्थात् जीवनाभिव्यक्ति के सौष्ठव और शक्ति की दृष्टि से इन समीक्षाओ का अधिकाश भाग अप्रासगिक होता है।)

समाज-शास्त्रीय आलोचना का दूसरा खतरा यह है कि वह प्रवृत्तियो के विश्लेषण में इतनी फँस जाय कि आलोच्य कृति में विशिष्ट जीवन को कितनी सफलता एवं मार्मिकता से अभिव्यक्त किया गया है, इस मूल प्रश्न को भूल जाय। यह खतरा और भी बढ जाता है जब समाज-शास्त्रीय आलोचक कलाकार से एक विशिष्ट सिद्धान्त या मतवाद की पुष्टि अथवा प्रचार की माँग करने लगता है। ऐसे आलोचक साहित्य में स्थूल मतवादी घोषणाओ को खोजने और पाने का प्रयत्न करते है जिसके फलस्वरूप उन्हें यह देखने का अवकाश नहीं रहता कि आलोच्य कृति में कोई अभिव्यक्ति कहाँ तक सफल अथवा रसमय हुई है। उदाहरण के लिए भारतेन्दु की राष्ट्रीय कविताएं उतनी अच्छी नहीं हो सकी है जैसा कि उनका प्रेमकाव्य, समाज-शास्त्रीय एवं प्रगतिवादी आलोचको ने इस तथ्य की उपेक्षा की है।

हम मानते है कि अन्तत. साहित्य-सृष्टि एक विशेष कोटि की रस-सवेदना की वाहक और उस पर आश्रित है; अतः वह बड़े-से-बडा विचारक और पडित, जिसने उस सवेदना को शिक्षित या विकसित नहीं किया है, साहित्य की आलोचना का अधिकारी नहीं हो सकता। इसलिए हमें वे आलोचक कभी-कभी हास्यास्पद जान पड़ते है जो साहित्य की आलोचना करते हुए आर्थिक, राजनैतिक, दार्शनिक विचारको या नेताओं की दुहाई दिया करते है।

आज के जैसे जटिल युग की सवेदना के वाहक कलाकार को समझने के लिए उस युग की अन्य सास्कृतिक प्रवृत्तियों से परिचित होना जरूरी हो सकता है, किंतु समीक्षक के लिए यह उससे कम जरूरी नहीं, बल्कि कहीं ज्यादा जरूरी है, कि उसने अनेक नये-पुराने कलाकारों के चरणों में बैठकर अपनी रस-सवेदना का परिष्कार किया हो। यदि आप मुझसे अपनी साहित्यिक रचनाओं की आलोचना के लिए उन दो समीक्षको में से—जिनमें एक ने केवल वाल्मीकि कालिदास, सूर, तुलसी, बिहारी-विद्यापति और शेक्सपियर, टॉल्स्टाय आदि को पढ़ा है, और दूसरे ने केवल शंकर, धर्मकीर्ति, काण्ट, हेगेल, कार्लमार्क्स और बर्ट्रण्ड रसेल को—एक को चुनने को कहे तो मै निश्चय ही पहले आलोचक को पसन्द करूँगा।

सक्षेप में, हमारे मतानुसार समाज-शास्त्रीय दृष्टि साहित्य को समझने का एक उपकरण है, वह पर्याप्त नहीं है। हम यह मानते है कि साहित्य में व्यक्त होने वाला जीवन मनुष्य का सामान्य—साधारणीकृत—जीवन है; किंतु यह जीवन स्थूल अर्थ में सामाजिक समझे जाने वाले जीवन का पर्याय न होकर

उससे कहीं अधिक व्यापक है। घर में बैठी प्रत्येक मा अपने शिशु की न जाने कितनी छवियों पर मोहित होती है; इस मोहित होने के रस का मानवता के स्वास्थ्य (और सम्भवत अस्तित्व-रक्षण) से घनिष्ठ सम्बन्ध है; किन्तु उसका उल्लेख देश की किसी पार्लमेण्ट या विद्वतसभा में नहीं होता। उस रसानुभूति का समाज-शास्त्रीय विवरण भी, शायद, नहीं दिया जा सकता। इसी तरह प्रकृति-काव्य और प्रेम-काव्य का समाज-शास्त्रीय विश्लेषण भी कुछ दूर तक ही प्रासंगिक हो सकेगा।

सच यह है कि साहित्य का कार्य और प्रयोजन दोनो ही स्थूल समाज-शास्त्रीय दृष्टि में नि शेष नहीं होते। वैज्ञानिक अन्वेषण-प्रणाली के आधुनिक व्याख्याता कह रहे हैं कि विज्ञान के नियम सूक्ष्म तत्वो के औसत व्यवहार पर लागू होते हैं, वे Statistical average को प्रकट करते हैं। इसके विपरीत साहित्यकार वैयक्तिक हृदय की सूक्ष्मतम निराली प्रतिक्रियाओ को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न करता है। ये प्रतिक्रियाएँ 'साधारणीकृत' होती हैं—स्थूल सामाजिक सहयोग के धरातल पर नहीं, अन्त. प्रकृति के निभृत एकान्त में।

'रामचरित मानस' की अपेक्षा 'सूर सागर' निश्चय ही महत्तर काव्य है, किन्तु इस तथ्य का कोई समाज-शास्त्रीय हेतु नहीं बताया जा सकता। (काव्य की दृष्टि से 'मानस' में अयोध्या-काण्ड ही महत्वशाली है; अवश्य ही तुलसी के दूसरे काव्य-ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं।) वस्तुतः साहित्यिक श्रेष्ठता का असली माप जीवन है, मानवता का साधारणीकरण के योग्य भाव-प्रकृति से सम्बद्ध जीवन। किसी देश या युग का निराला सामाजिक जीवन वहीं तक साहित्य का विषय बनता है जहाँ तक वह मनुष्य की अन्त प्रकृति का आलोडन करता अथवा उसके प्रवाह को रुद्ध करता है। साहित्यकार सामाजिक, संस्थाबद्ध जीवन को मुख्यतः इसी दृष्टि से देखता है—अन्त' प्रकृति की निजी जरूरतों की दृष्टि से। साहित्यकार, मुख्यत', अन्त प्रकृति का प्रवक्ता और सरक्षक है। और चूँकि यह अन्तःप्रकृति मनुष्य-मात्र में सामान्य है, इसलिए, अपने गहरे रूप में, साहित्य वर्ग-विशेष के लिए नहीं, मानव-मात्र के लिए होता है। इसलिए यह निश्चित है कि एक अधीत पूँजीवादी को मैक्सिम गोर्की का 'मा' उपन्यास हृदयस्पर्शी लगेगा; यद्यपि, अन्त. प्रकृति से असम्पृक्त और वाहरी स्वार्थो से सम्पृक्त सामाजिक जीवन में, वह वैसी साहित्य-सृष्टि का विरोधी हो सकता है।

साहित्यकार अन्याय और गरीबी का विरोध कर सकता है—किसी वर्ग के नाम पर नहीं, बल्कि उस सार्वभौम 'मा' के नाम पर जिसे अपने शुष्क स्तनो में दूध लाने के लिए पुष्टिकर भोजन चाहिए, उस सार्वभौम रोगी के नाम पर

जिसे डॉक्टर की देख-रेख और दवा चाहिए, मानवता की उस स्वाभिमान-भावना के नाम पर, जो साहित्यकार द्वारा कुरेदी जाकर, एक सवेदनशील शूद्र युवक के लिए समान मनुष्यता का अधिकार माँगती है। श्रेष्ठ साहित्य हर हालत में 'मानव' को अपील करता है, वर्ग-विशेष को नहीं—वह मानवता के साधारणीकृत जीवन-स्पन्दन का वाहक होता है। इस सचाई को हठपूर्वक अस्वीकार करने का अर्थ है—वर्गहीन समाज में साहित्य-सृष्टि की सम्भावना से इनकार करना। इसके विपरीत हमारा अनुमान है कि वर्गहीन समाज में ही शत-प्रतिशत रूप में साधारणीकृत सामाजिक साहित्य लिखा जा सकेगा। बात यह है कि स्वार्थमूलक दल-बन्दियो के समाज में श्रेष्ठ कलाकार कभी-कभी और कम श्रेष्ठ कलाकार अक्सर दल-विशेष की 'बाहरी' माँगों का पोषण करता हुआ अन्त.प्रकृति की मूल प्रेरणाओ से विच्छिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए 'रामचरितमानस' में वर्ग-चेतना का अश अधिक है, 'सूरसागर' में मूल मानवीय चेतना का। यह बात आज जितनी स्पष्ट देखी जा सकती है उतनी तुलसी के समय में नही देखी जा सकती थी।

दल-विशेष के स्वार्थ से भिन्न साहित्य तथा अन्य सांस्कृतिक प्रयत्नो का क्या निगूढ प्रयोजन होता है इसकी छानबीन के लिए एक स्वतन्त्र निवन्ध की आवश्यकता होगी। यहां हम सिर्फ इतना कह दें कि सस्कृति का कोई भी अग—साहित्य, दर्शन, आचार, नीति—पूर्णतया वर्ग-विशेष के स्वार्थों से निर्धारित •हीं होता, प्रत्येक सास्कृतिक प्रयत्न की मानव-मात्र के लिए कुछ सार्थकता होती है जिसके कारण वह प्रयत्न, अपने अनुष्ठाता वर्ग के ऐतिहासिक लोप या तिरोधान के बाद भी, आगे आने वाली पीढ़ियो के लिए मूल्यवान धरोहर बना रहता है।

: ३ :

अतीत का साहित्य : क्लासिक की परिभाषा

अतीत सहित्य को हम क्यो पढते है ? 'लखनऊ-लेखक-सघ' में एक दिन यह चर्चा छिडी, पर विभिन्न हठपूर्ण सम्मतियो के कोलाहल में किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सका। कुछ लोगो ने कहा—अतीत की सस्कृति को समझने लिए हम तब का साहित्य पढते है। लेकिन प्रश्न यह है कि हम अतीत की सस्कृति को ही क्यों समझना चाहते है ? दूसरे लोगो के अनुसार हम अतीत के इतिहास और साहित्य को इसलिए पढ़ते है कि आज के जीवन के लिए शिक्षा ले सकें। यहाँ भी एक प्रश्न उठ खडा होता है—यह शिक्षा लेने की प्रक्रिया क्या है, और शिक्षा लेने के लिए आज के शिक्षक पर्याप्त क्यो नहीं है ?

इसी सम्बन्ध में अतीत साहित्यकारो के जीवन-दर्शन की चर्चा भी की जाती है। कतिपय समीक्षकों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि विश्व के 'क्लासिकल' कवि अथवा लेखक किसी-न-किसी रूप में प्रगतिशील जीवन-दर्शन के शिक्षक अथवा प्रचारक थे। कहना नहीं होगा कि इस प्रगतिशीलता की व्यापक और सकीर्ण अनेक व्याख्याएँ सम्भव है। उदाहरण के लिए डॉ० भगीरथ मिश्र ने रीतिकाल-सम्बन्धी अपने एक निबन्ध में कविवर बिहारीलाल तथा देव के वेदान्त-परक एवं वैराग्यवादी पद्यो को उद्धृत करके उन्हें महत्त्वपूर्ण बतलाया है। इसके विपरीत श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने अपनी कुछ समीक्षाओ में सूर, तुलसी आदि की जनहित की भावना पर गौरव दिया है।

किसी भी समस्या का समाधान एक बाहरी विश्लेषण की सतह पर किया जा सकता है, और वह समाधान बहुत गहराई में घुसकर ऐसे धरातल पर खोजा और प्राप्त किया जा सकता है जहाँ जीवन की बहुत-सी दूसरी समस्याएँ एक मिलनबिन्दु पर आकर केन्द्रित होती है। ऊपर के प्राय. सभी दृष्टिकोणो में सच्चाई का अश है, उनकी कमी यही है कि वे मानव-जीवन और मानव-संस्कृति की वैविध्यपूर्ण, व्यापक पीठिका से सुसम्बद्ध नहीं है।

चिन्तन के क्षेत्र में प्रायः अनेक कठिनाइयाँ इसलिए उपस्थित होती है कि

हम चिन्तन-प्रक्रिया में पूर्णतया ईमानदार होने की कोशिश नही करते। युग अथवा प्रचलित दृष्टियो के भय से हम बाह्य अथवा आन्तरिक यथार्थ को पूरा-पूरा नहीं देखते, और यदि देखते भी है तो उसे स्वीकार नहीं करते। फलतः हमारा तत्सम्बन्धी चिन्तन एकांगी हो जाता है—जिस एकागिता को हम बचा सकते थे, उसे भी नहीं बचा पाते। अतएव चिन्तन की प्रगति एक प्रकार से नैतिक प्रगति भी होती है, क्योंकि वह क्रमश हमें यथार्थ को देखने का अधिक साहस देती है।

यदि हम अपने सहज अनुभव पर विश्वास करें तो, कम-से-कम अतीत साहित्य के बारे में यह कह सकते है कि हम मुख्यत उसे रस के लिए पढ़ते है। भले ही एक अन्वेषक पंडित 'मेघदूत' अथवा 'बिहारी सतसई' को उन युगो की संस्कृति समझने के लिए पढे, अथवा इस कर्तव्य-भावना से कि उनके अध्ययन से देश की संस्कृति की रक्षा होती है, किन्तु साहित्य के अधिकाश फक्कड प्रेमी इन दुश्चिन्ताओं से मुक्त होते है। संस्कृत के अनेक ग्रन्थो को प्रस्तुत लेखक ने कभी दोबारा देखने की कोशिश भी नहीं की, जबकि कुछ नाटको और महाकाव्यों को वह लगातार पढ़ता आया है। कारण यह नहीं कि दूसरी कोटि के ग्रन्थ भारतीय-संस्कृति का ज्यादा प्रामाणिक परिचय देते है—वह परिचय तो एक आनुषगिक और गौण बात है; साफ और सच्ची बात यह है कि उसे उनमें रस मिलता है।

साहित्य की उपयोगिता को किसी 'जीवन-दर्शन' अथवा 'जनहित' की परिधि में सीमित करके नहीं देखा जाता। हमारा अनुमान है 'मेघदूत' जैसी कृतियों की उपयोगिता उक्त दोनो कोटियो से भिन्न प्रकार की है। 'जीवन-दर्शन' की कसौटी न केवल कुछ कृतियो के लिए अपूर्ण है—वह विशिष्ट कलाकार के सम्पूर्ण कृतित्व को आँकने का भी अनिवार्य पैमाना नहीं है। दूसरे, 'जीवन-दर्शन' कलाकार बहुत-कुछ अपने समाज और वातावरण से लेता है; वह खास तौर से उसकी अपनी लब्धि नहीं होता।

विश्व-साहित्य में ऐसे अनेक बड़े कलाकार हुए है जिन्होने कोई स्पष्ट सन्देश या 'जीवन-दर्शन' अपने समाज को नहीं दिया है। मार्क्सवादियों का विचार है कि संसार के सारे दर्शनो को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है, एक अध्यात्मवादी और दूसरे भौतिकवादी। स्थूल-रूप में यह वर्गीकरण स्वीकार किया जा सकता है। प्रश्न है—क्या हम कालिदास, शेक्सपियर जैसे लेखकों को विशुद्ध-रूप में अध्यात्मवादी कह सकते है? कालिदास को ही लीजिए। इस कवि ने विशुद्ध ऐहलौकिक सुख-भोग का समर्थन करने वाली पंक्तियाँ भी

लिखी हैं और ऐसे पद्य भी जिनमें वैराग्य, लौकिक-सुख-निरपेक्षता आदि का महत्त्व-ख्यापन है। वसन्त ऋतु में कवि की कोकिला किसी युवती से कहती है—'अपने मान को छोडो भी, प्रियतम से किये हुए झगडे को खतम करो; गया हुआ यौवन फिर वापस नहीं आता।' उसी कालिदास ने इक्ष्वाकुवंशियो की इस प्रवृत्ति की प्रशसा की है कि वे यौवन ढलते ही राज्य का मोह छोड़कर वनवासी हो जाते थे। आप कालिदास को भौतिकवादी कहेगे या अध्यात्मवादी?

उक्त कवि ने एक ओर जितेन्द्रिय तपस्वियो के सुन्दर चित्र दिए हैं तो दूसरी ओर स्वच्छन्द विहार करने वाले प्रणयी प्रेमियो के। दोनो में कौन-से चित्र कालिदास के 'जीवन-दर्शन' को व्यक्त करते हैं? और यह प्रश्न कालिदास के ही नहीं, संसार के किसी भी महान् साहित्यकार के सम्बन्ध में पूछा जा सकता है। कहा जाता है कि भारतवर्ष अध्यात्म-प्रधान देश है, लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि शृङ्गार के क्षेत्र में जितनी सरस और मासल कविता हमारे देश में लिखी गई है, वैसी शायद किसी दूसरे देश में नहीं लिखी गई। कालिदास, भारवि, माघ, अमरुक आदि ही नहीं, सूरदास एव विद्यापति जैसे भक्त-कवि भी इसका ज्वलन्त निदर्शन हैं। शिव, विष्णु आदि देवो के प्रति निवेदित हमारा समूचा स्तोत्र-साहित्य शृङ्गार के खुले सकेतो से ओत-प्रोत है। और यदि यह साहित्य अध्यात्मवादी है, तो फिर भौतिकवादी साहित्य किसे कहा जायगा?

हम अपनी बात दुहराते हैं—साहित्य और कला की उपयोगिता 'जीवन-दर्शन' तक सीमित नहीं है। अतीत साहित्य के बारे में भी यह सत्य है, क्योकि अतीत का 'जीवन-दर्शन' आज हमें और भी कम ग्राह्य होगा। फिर भी एक अर्थ है जिसमें साहित्यकार हमें उपयोगी 'जीवन-दृष्टि' दे सकता है। किन्तु यह दृष्टि साहित्य के सामान्य प्रयोजन से विच्छिन्न नहीं होती। इस सम्बन्ध में हम आगे चर्चा करेंगे।

तो, अतीत साहित्य को हम क्यों पढ़ते है? उत्तर है—बहुत-कुछ उसी कारण से जिस कारण से हम वर्तमान साहित्य को पढते है। अतीत साहित्य को हम इसलिए पढ़ते हैं कि वह आज भी हमारे जीवन-स्पन्दन को वेगपूर्ण एवं समृद्ध बनाने की क्षमता रखता है। आज भी वह यथार्थ की अर्थवती छवियों में हमारी चेतना का प्रसार करता हुआ हमारे व्यक्तित्व को अधिक सचेत, रसमय और सृजनशील बनाता है। जिस साहित्य की यह क्षमता इतिहास के वर्तमान समय-बिन्दु तक निश्शेष नहीं हुई है, वह 'क्लासिकल' साहित्य है। इसी प्रकार अतीत के उन विचारकों की कृतियाँ, जो आज भी हमारी जिज्ञासा और कुतूहल की भावना को जागृत करती हैं, जो आज भी हमारे मस्तिष्क को

झकझोरने की शक्ति रखती है, अपने-अपने विषयो की 'क्लासिक्स' कहलाती है। उपनिषद् और भगवद्गीता, बुद्ध, प्लेटो, अरस्तू, शकर आदि की कृतियाँ अथवा उक्तियाँ इसी अर्थ में आज भी अर्थवती है। इस तथ्य को न समझकर उक्त कृतियो के 'ऐतिहासिक' महत्त्व की वात करना निरा बालकपन है।

सच यह है कि मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी है; वह अपने वर्तमान को ही नहीं, अतीत को लेकर भी जीवित रहता है। वस्तुत. हमारे जीवन में अतीत की स्मृतियाँ ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, वर्तमान के इन्द्रिय-सवेदन उतने महत्त्वपूर्ण नहीं। हमारे जीवन की महत्ता मुख्यत. हमारी स्मृतियो में है—हमारी राजनैतिक तथा आर्थिक क्रातियाँ, हमारी धार्मिक-नैतिक शिक्षाएँ तथा विश्वास, हमारी सैकडो विचार-पद्धतियाँ ये सब मानव-जाति की बहुमूल्य स्मृतियाँ ही है। आज रवीन्द्र और गाधी भी हमारे लिए स्मृति बनकर रह गए है; वे हमारे इतिहास की चीज है, हमारे वर्तमान की नहीं। इन स्मृतियो को ही हम परम्परा अथवा सास्कृतिक धरोहर कहते है।

इस धरोहर का वास्तविक अर्थ एव मूल्य समझने के लिए हमें कुछ और गहराई में घुसना पडेगा। डार्विन का विकासवाद बतलाता है कि विभिन्न जीव-योनियो का विकास और उन्नति उन अनुकूल परिवर्तनो के इकट्ठे होने से घटित होती है जो आने वाली पीढ़ियो की शरीर-रचना में संक्रान्त हो जाते है। अनुकूल परिवर्तनों का सरक्षण और सक्रमण यही जीवयोनियो के विकास का रहस्य है।

लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि जीवन के इतिहास में उस प्रकार के विकास की सम्भावनाएँ अब खत्म हो चुकी है। मनुष्य को उत्पन्न करके मानो प्रकृति की विकास-क्रिया दूसरे साधनो को लेकर भिन्न ढंग से अग्रसर होने लगी है। मानव-व्यक्तित्व में जो अनुकूल या प्रतिकूल परिवर्तन होते है, वे मुख्यतः शारीरिक अथवा बीजगत (Germ Plasm को प्रभावित करने वाले) नहीं होते। अब वे परिवर्तन आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक होते हैं। हमारे बदलते हुए विचार, मनोभाव, रागात्मक संवेदनाएँ, नैतिक आदर्श आदि ही वे परिवर्तन है जो मानवता के स्वरूप को निर्मित और प्रभावित करते है। अवश्य ही इनमें कुछ परिवर्तन कम महत्त्वपूर्ण होते है, कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण। दूसरे शब्दो में कहें तो मानवता की निजी गहरी दृष्टि से कुछ विचारको के विचार तथा कुछ कलाकारो की सवेदनाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण होती है, कुछ की कम। इस प्रकार के परिवर्तनो में मानव जाति जिन्हे अधिक महत्त्वपूर्ण समझती है, उन्हें रक्षित कर लेती है, शेष को भुला देती है। ये रक्षित महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक परिवर्तन

ही 'क्लासिक्स' हैं। आगे आने वाली पीढ़ियाँ इन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को वशानुक्रम से नहीं पाती। वे परिवर्तन मनुष्य के शरीर अथवा मस्तिष्क की परिवर्तित रचना के रूप में चरितार्थ नहीं होते; वे भाषा आदि प्रतीकों में बँधकर पड़े रहते हैं। मानवता का साम्प्रतिक विकास आवश्यक रूप में उसके द्वारा किये जाने वाले प्रतीको के उपयोग पर निर्भर है। गणित-शास्त्र का शानदार इतिहास, जिस पर भौतिक-शास्त्र की सारी उन्नति अवलम्बित है, ज्ञान की प्रतीकाधारित प्रगति का अद्भुत निदर्शन है। दूसरे क्षेत्रो में भी हमारे विचारो और भावनाओ की प्रगति दूसरे प्रकार के (मुख्यतः शब्दमय) प्रतीकों पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से देखने पर अतीत साहित्यिक तथा विचारात्मक कृतियो का महत्व एक दूसरी ही रोशनी में दिखाई देने लगता है।

गणित के नवीनतम अन्वेषण, उसकी प्राचीनतम तथा सरलतम स्थापनाओ पर निर्भर करते हैं। यह नहीं हो सकता कि कोई विद्यार्थी सिर्फ नये अन्वेषणो को सीखने की इच्छा रखे और पहले की स्थापनाओ की अवज्ञा करे। कुछ उसी प्रकार आज का दर्शन और साहित्य भी अतीत साहित्य और दर्शन पर निर्भर है। शायद आप कहें कि गणित की मिसाल ठीक नहीं, क्योकि कालिदास और तुलसी अथवा शंकर और रसेल में वैसा आवश्यक या अखण्ड तर्कात्मक सम्बन्ध नहीं है जैसा कि गणित की पुरानी और नई स्थापनाओ में। उत्तर में निवेदन है कि तर्कात्मक न होते हुए भी पूर्वकथित सम्बन्ध आकस्मिक या अनावश्यक नहीं है। इस समय का महान् दार्शनिक अथवा महाकवि वह नहीं बन सकता जो सिर्फ अपने युग को जानता है, बल्कि वह जिसका चिन्तन और संवेदन क्रमशः अतीत के तर्क-वितर्क और सौन्दर्य-बोध को आत्मसात् करके समृद्ध बन चुके है। बात यह है कि आज के युग की जहाँ अपनी दार्शनिक गुत्थियाँ और अपना जीवन-बोध है वहाँ प्राचीन समस्याएँ तथा जीवन-बोध भी उसका अनिवार्य अग बन चुके हैं। प्राचीन प्रश्नो और समाधानो के आलोक में ही आज की समस्याओं का निरूपण और उनके हल का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार प्राचीन सौन्दर्य-बोध की पृष्ठभूमि में ही आज की सवेदना का ताना-बाना बुना जाता है। यह नहीं कि आज का दार्शनिक या कवि प्राचीन की उपेक्षा नहीं कर सकता, किन्तु ऐसा करके वह जिस चिन्तन-पद्धति या कला की सृष्टि करेगा, वह अनुपात-शून्य एव विकलाग होगी, वह युग की सम्पूर्ण अर्थात् पूर्ण रूप में सस्कृत चेतना को सन्तुष्ट नहीं कर सकेगी।

युग की सम्पूर्ण सास्कृतिक चेतना में वे सारे तत्त्व मौजूद रहते है, जिनका आकलन या अनुचिन्तन अतीत की किसी भी कालावधि में स्थायी महत्त्व की

वस्तु समझा गया था। आज हम प्राचीन शिक्षकों और कवियों की उक्तियों को समग्र जीवन-दर्शन अथवा समूचे सौन्दर्य-बोध के रूप में भले ही स्वीकार न करें, किन्तु उन्हें हम एकान्त मिथ्या कहकर अस्वीकार नहीं कर सकते। मानव शरीर की जिन उपयोगी क्रियाओं अथवा अंगों का विकास की लम्बी यात्रा में समय-समय पर आविर्भाव हुआ है, वे सभी आज किसी-न-किसी रूप में हमारे साथ हैं; उनके ऐतिहासिक विकास तथा स्वतन्त्र अस्तित्व को ठीक से समझे बिना हम अपनी वर्नमान भौतिक गठन को सही तौर से नहीं समझ सकते। यही बात हमारी मानसिक और आध्यात्मिक गठन पर लागू है। ज्ञान के क्षेत्र में विश्लेषण और समन्वय दोनों साथ-साथ चलते हैं। किसी तथ्य या समस्या का विश्लेषण जितना बारीक और बहुमुखी होगा, बाद में मिलने वाला समाधान या समन्वय उनना ही दृढ़ और समृद्ध होगा। मानव-चेतना का इतिहास मानो उन तत्त्वों की पृथक्कृत एव सशक्त अवगति देता है, जो हमारे काल तक आते-आते अनिवार्य रूप में संकुल और सम्पृक्त हो चुके हैं। इस प्रकार की अवगति में हमें उन तत्त्वो का अधिक सचेत एव अधिकारपूर्ण उपयोग करने की, नये सन्दर्भों में उनकी नियोजना करने की, क्षमता प्रदान करती है। इस प्रकार अतीत की विश्लिष्ट अवगति हमारी सृजन-शक्ति को दृढ़ता और प्रसार देती है।

ऐतिहासिक विकास की इस प्रक्रिया को हम एक दूसरी दृष्टि से देखें। प्रत्येक युग मानव-चेतना या व्यक्तित्व को एक सीमा तक समृद्ध करके छोड़ देता है। जिन तत्वों द्वारा उस चेतना या व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है, उनके समस्त सम्भव संगठन या संव्यूहन उस युग के मनीषियो की रचनाओं में उपलब्ध हो जाते हैं। विभिन्न कोटियो के नायक-नायिकाओं की परिकल्पना या निर्माण में युग-विशेष के कलाकार अपने समय के सम्पूर्ण सौन्दर्य-बोध, अथवा सश्लिष्ट मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक-सामाजिक वोध को, चरितार्थ कर देते हैं। उदाहरण के लिए शकुन्तला-दुष्यन्त, इन्दुमती-अज, कादम्बरी-चन्द्रापीड तथा राम-सीता के व्यक्तित्वो एव सम्बन्धों में भारत के स्वर्ण-युग का अशेष सौन्दर्य-वोध पुंजीभूत रूप में अभिव्यक्त है। यही बात होमर, शेक्सपीयर, टालस्टॉय आदि के पात्र-पात्रियो के वारे में सत्य है। यहां पाठक सौन्दर्य-वोध शब्द की सकीर्ण आदर्शवादी व्याख्या न लें, उसके अन्तर्गत युग-विशेष का असौन्दर्य एव अनीति का वोध भी आ जाता है। रावण का व्यक्तित्व युग के सौन्दर्य-वोध की उसी हद तक अभिव्यक्ति है जिस हद तक राम का चरित्र। इस दृष्टि से डास्ताएव्स्की के असामान्य या विच्छिन्न व्यक्तित्व वाले पात्र भी अपने युग के सौन्दर्य-वोध के प्रतीक हैं।

हम कहना यह चाहते हैं कि मानव व्यक्तित्व या चेतना का निर्माण करने-वाले ये तत्व प्रायः एक युग से दूसरे युग में संक्रान्त होते जाते हैं; और प्रत्येक आने वाला युग उनकी जटिलता में वृद्धि कर देता है। बाद के युग में पूर्व युग के तत्व रहते हैं, पर उतने स्पष्ट रूप में नहीं जैसे कि वे विगत युग में थे। विगत युग-जीवन के ये तत्व अब भी व्यक्तियों का निर्माण करते हैं, पर कुछ भिन्न रूप में। जिस प्रकार आज के भौतिक-सामाजिक परिवेश में कालिदास का परिवेश समावेशित है, भले ही वह उस रूप में दिखाई न देता हो, उसी प्रकार आज भी मानव-चेतना में कालिदास के युग की मानव-चेतना समाई हुई है। यही कारण है कि हम आज भी 'शाकुन्तल' और 'मेघदूत' का रस ले सकते हैं। किन्तु आज यदि कालिदास स्वर्ग से उतर आएँ, तो वह दास्ताएव्स्की के 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' का रस ले सकेगा, इसमें सन्देह है। कारण यह है कि उक्त उपन्यास के नायक के व्यक्तित्व को निर्मित करने वाले सभी तत्वों से कालिदास का परिचय नहीं होगा; उसे उक्त नायक एक पहेली जान पड़ेगा। इसके विपरीत 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' का रस ठीक से वही पाठक ले सकता है जिसने अतीत का काफी साहित्य पढा है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने यूरोपीय दर्शन का इतिहास नहीं पढ़ा है वह न रसेल को समझ सकता है, न विटगैन्स्टीन या हैडेगर को; वह व्यक्ति, बड़ी-से-बडी प्रतिभा रखते हुए भी, ऐसे किसी दर्शन का निर्माण नहीं कर सकता जो विश्व-दर्शन अथवा यूरोपीय दर्शन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण कडी बन सके। इसी प्रकार वह लेखक जो अतीत साहित्य में प्रतिष्ठित मानव-चेतना से सुपरिचित नहीं है, महत्त्वपूर्ण पात्रों अथवा साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता। महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पुरुषों की भाँति साहित्य के महत्त्वपूर्ण पात्र भी वही होते हैं, जो सचेत या अचेत भाव से, मानव-चेतना के विधायक असंख्य परम्परा-प्राप्त तत्त्वो को समेटते या ढोते चलते हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द का होरी एक साधारण नहीं, असाधारण पात्र है। वह और उसके साथी भारतीय सौन्दर्य-बोध की अनगिनत परम्पराओं के वाहक हैं। इसी से यह सचाई अनुगत होती है कि श्रेष्ठतम साहित्य के पात्र, निजी व्यक्तित्व से सम्पन्न होते हुए भी, 'टाइप' होते हैं, वे सौन्दर्य-बोध अथवा रागात्मक बोध की लम्बी, परिचित परम्पराओ का प्रतिनिधित्व कहते हैं।

हमने अतीत साहित्य की व्यापक उपयोगिता पर अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया। संक्षेप में, तथाकथित 'क्लासिकल' साहित्य जीवन के उन तत्त्वों की चेतना का वहन करता है जिनकी उपयोगिता या सार्थकता आज भी अक्षुण्ण है। 'क्लासिकल साहित्य' के सरक्षण एव अध्ययन का अर्थ रसात्मक सवेदना

के उन रूपों का आकलन या उज्जीवन है, जो मानवता के चेतन, मूलक विकास के अंग एवं प्रतीक हैं। मानव-समाज का कोई सदस्य सिर्फ बीसवीं सदी में पैदा हो जाने से ही बुद्ध एवं कालिदास से श्लाघ्यतर व्यक्तित्व वाला मनुष्य नहीं बन जाता; उनकी, उनके बाद के तथा अपने समकालीन अनेक महापुरुषों की सांस्कृतिक लब्धियों को आत्मसात् करके ही वह अपने व्यक्तित्व को अधिक सचेत एवं समृद्ध बना सकता है। इस दृष्टि से बीसवीं सदी के एक साधारण बुद्धि-जीवी का व्यक्तित्व अतीत के बड़े-से-बड़े लेखक-विचारकों की तुलना में अधिक जटिल तथा चेतनावान् हो सकता है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है—क्या कोई ऐसा अर्थ है जिसमें अतीत का साहित्यकार आज भी हमारा नियामक एवं पथ-प्रदर्शक बन सकता है? उत्तर में निवेदन है कि प्रत्येक लेखक और विचारक नई चेतना का विधायक होने के नाते हमारा शिक्षक होता है। मतलब यह कि शिक्षा केवल नैतिक ही नहीं होती। यदि शिक्षा का अर्थ नैतिक-राजनैतिक आदर्शों का प्रचार-मात्र हो तो कहना होगा कि न्यूटन तथा आइन्स्टाइन मानव-जाति के शिक्षक नहीं हैं। इसके विपरीत मनोवैज्ञानिक अर्थात् मानव-स्वभाव की रागात्मक सम्भावनाओं के उद्घाटक होने के नाते बिहारी एवं विद्यापति हमारे वैसे ही महत्त्वपूर्ण शिक्षक हैं जैसे कि वाल्मीकि और तुलसी। यही नहीं, इस दृष्टि से हम टॉल्स्टाय और शेक्सपीयर को तुलसी से बड़ा शिक्षक भी कह सकते हैं।

किन्तु प्रश्न का एक दूसरा पक्ष भी है। समृद्ध, रसपूर्ण जीवन के लिए जहाँ कला और चिन्तन अपेक्षित हैं, वहाँ अच्छी समाज-व्यवस्था भी कम अपेक्षित नहीं। और अच्छी व्यवस्था का अर्थ है—नर-नारियो के सन्तुलित सम्बन्ध एवं व्यक्तियों का सन्तुलित, स्वस्थ जीवन। कलाकार इस प्रकार के जीवन एवं व्यवस्था की रूप-रेखा खड़ी करके जन-कल्याण का पथ प्रशस्त कर सकता है। और चूंकि मानव-जीवन के लिए उपयोगी नैतिक नियन्त्रण तथा नैतिक-रागात्मक सवेदनाएँ युग-युग में करीव-करीव वही रही हैं उदाहरण के लिए संयम, निर्लोभता तथा त्याग की भावनाओ का प्राय. सार्वकालिक महत्त्व है—इसलिए अतीत के कलाकार आज भी श्रेष्ठ व्यवस्था एवं चरित्र की कल्पना में हमारी मदद कर सकते हैं। प्राचीन साहित्यकारो के जीवन-दर्शन एव सिद्धान्त—जैसे पुनर्जन्म, ईश्वरवाद आदि से सम्वद्ध मन्तव्य—जहाँ पुराने पड़कर अग्राह्य हो जाते हैं, वहाँ उनकी कृतियों से मिलने वाली रसात्मक एव नैतिक प्रेरणाएँ चिरकाल तक प्रभावपूर्ण वनी रहती हैं। यही नहीं, हमारी अवस्था है कि इस प्रकार की प्रेरणाएँ लम्वे-चौड़े जीवन-दर्शन से जितनी कम सम्पृक्त रहती

हैं, उतनी ही अधिक नैसर्गिक एवं स्थायी महत्त्व वाली जान पडती हैं, विशेषतः आगे आनेवाली पीढियो को। इस दृष्टि से भी हम शेक्सपीयर तथा कालिदास को तुलसी से कम महत्त्व का शिक्षक नहीं कह सकेंगे। तुलसी की मान्यताओ में बहुत-सी ऐसी है जिन्हे आज हम भूल जाना चाहते है, जिनके भुलाए जाने में ही हमारा कल्याण है, ऐसी मान्यताएँ कालिदास और शेक्सपीयर में अपेक्षाकृत कम है। इसीलिये आज तुलसीदास जितने पुराने एव मध्ययुगीन जान पडते हैं, वैसे कालिदास, भवभूति, वाल्मीकि और शेक्सपियर नहीं। इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि अच्छे लेखक को किसी जीवन-दर्शन का कट्टर अनुयायी नहीं होना चाहिए।

: ४ :

प्राचीन साहित्य-शास्त्र की उपयोगिता

प्राचीन साहित्य एवं साहित्य-शास्त्र की उपयोगिता की चर्चा एक व्यापक सन्दर्भ में भी की जा सकती है, और अपेक्षाकृत संकीर्ण परिधि में भी। व्यापक परिधि में 'प्राचीन' के बदले 'अतीत' शब्द रखा जा सकता है। हम अतीत के साहित्य-शास्त्रियो (अथवा साहित्यकारो, विचारको, आदि) को क्यों पढ़ें ? प्रस्तुत निबन्ध में हमें इस व्यापक प्रश्न पर विचार नहीं करना है। यहाँ हम 'प्राचीन' का अर्थ 'क्लासिकल' लेंगे। हमारा तात्पर्य उन साहित्य-मीमासको से है, जिन्होने अपने मन्तव्यो का प्रतिपादन 'क्लासिकल' सस्कृत-साहित्य की कृतियो के आधार पर किया।

पहले हम यह स्पष्ट करें कि इस प्रकार के प्रश्न को उठाने की आवश्यकता क्या है। आज हम अक्सर यह शिकायत सुनते हैं कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य में अच्छे समीक्षको की कमी है। यदि इस कथन का प्रमाण देना अपेक्षित हो तो हम कहेंगे—हिन्दी के समीक्षा-साहित्य से शुक्ल जी की कृतियो को निकाल देने की कल्पना कीजिए और देखिए कि उस साहित्य में कितनी वडी रिक्तता हो जाती है। शुक्ल जी के अतिरिक्त यदि हम उनसे निम्नतर श्रेणी के चार-छ. समीक्षकों की कृतियाँ निकाल दें, तो शायद हिन्दी में आलोचना-साहित्य के नाम पर प्राय कुछ भी नहीं रह जायगा। कुछ लोग शायद इस चार-छ की संख्या के वदले एक दर्जन कहना चाहें, किन्तु उस दशा में हम उन समीक्षको की भी गणना कर रहे होंगे जिन्होंने न तो कोई स्वतन्त्र चिन्तन किया है, और न आधुनिक साहित्य के मूल्याकन का प्रयत्न ही।

ऊपर के तथ्यों के साथ ही हमें एक दूसरी चीज़ पर गौर करना है। हिन्दी-भापा के विशाल क्षेत्र में कम-से-कम एक दर्जन विश्व-विद्यालय तथा वीसियों डिग्री कालेज हैं। इन संस्थाओं के सभी अध्यापक एम ए. की डिग्री पाये हुए रहते हैं, और उन में काफी सख्या में डॉक्टर भी हैं। प्राय ये सभी अध्यापक

प्राचीन साहित्य-शास्त्रियो के मुख्य सिद्धान्तो से परिचित रहते हैं। प्राचीन साहित्य-शास्त्र के इतने जानकारो के रहते हुए यदि यह कहा जाय कि हिन्दी में अच्छे समीक्षकों की कमी है, तो इसका यह अर्थ होगा कि प्राचीन साहित्य-शास्त्र का परिज्ञान किसी व्यक्ति को अच्छा समीक्षक बनाने में असमर्थ है। इस स्थिति से कुछ लोग यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि श्रेष्ठ समीक्षक बनने के लिए 'क्लासिकल' साहित्य-शास्त्र का ज्ञान अपेक्षित नहीं है। दूसरा निष्कर्ष इससे भी खराब हो सकता है, वह यह कि प्राचीन साहित्य-शास्त्र का अध्ययन श्रेष्ठ समीक्षक बनने में बाधक है। तीसरा सम्भव निष्कर्ष यह है कि उच्च कोटि का आलोचक बनने के लिए 'क्लासिकल' साहित्य-शास्त्र का अध्ययन काफी नहीं है।

सम्भवत' उक्त तीन निष्कर्षो में अन्तिम सबसे अधिक सचाई के निकट है। किन्तु सिर्फ इस निष्कर्ष को स्वीकार कर लेने से यह समझ में नहीं आ सकता कि प्राचीन साहित्य-शास्त्र किस अर्थ में, एव किस प्रक्रिया से, हमारी समीक्षा-बुद्धि को विकसित अथवा पुष्ट करता है। इस समस्या पर विचार करते हुए हम पाठकों से एक यह नम्र निवेदन कर दें कि प्रस्तुत लेखक को प्राचीन साहित्य-शास्त्र की गहरी जानकारी का बिलकुल ही दावा नहीं है।

: २ :

साहित्य-शास्त्र का सामान्य प्रयोजन

आलोचना रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या है। आलोचक विश्लेषण करता है, वह हमारे मस्तिष्क में उन तत्त्वों की विश्लिष्ट चेतना उत्पन्न करता है जो किसी साहित्यिक कृति अथवा उसके किसी अश को रसमय या नीरस बनाते हैं। काव्य की विशेषताओं को सामान्य नाम देने का अर्थात् सामान्य रूप में प्रकट करने का नाम ही साहित्य-शास्त्र है।

एक समझदार पाठक की दृष्टि से आलोचना एव साहित्य-शास्त्र दोनों का उपयोग यह है कि वह उनकी मदद से अच्छे-बुरे साहित्य के विधायक तत्त्वों की सचेत अवगति प्राप्त करे। इस क्रिया द्वारा साहित्य का रस-ग्रहण एक अन्ध व्यापार न रहकर चेतना-मूलक व्यापार बन जाता है। आलोचना-शास्त्र की जानकारी रखने वाला पाठक अधिक सचेत भाव से साहित्य का रस लेता है, और विभिन्न कृतियो के सौष्ठव में विवेक करना सीखता है। स्वय लेखकों के लिए भी आलोचना तथा साहित्य-शास्त्र का कम महत्व नहीं है। साहित्यिक सौन्दर्य के विधायक तत्त्वो की विश्लिष्ट चेतना द्वारा वे उन तत्त्वो का सचेत उपयोग करने की क्षमता प्राप्त करते हैं।

किन्तु साहित्य-शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है हमारी रस-संवेदना का शिक्षण एवं परिष्कार। प्रत्येक प्रकार की साहित्यक विचारणा का आधार साहित्यकारों की विद्यमान कृतियाँ होती हैं। उन कृतियों में से ही साहित्य-मीमांसक अपने उदाहरण चुनते हैं। इस प्रकार साहित्य के विचारक हमें इस बात का मौका देते हैं कि हम श्रेष्ठ कृतियों की कतिपय विशेषताओ को ज्यादा अवधान से देखें। इस दृष्टि से पढ़ा हुआ साहित्य-शास्त्र काव्य के मर्मस्थलो से निकट परिचय स्थापित करने का उपकरण बन सकता है। प्राचीन साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थो को, विशेषत. उनके अलंकार-प्रकरणों को, प्रस्तुत लेखक प्रायः इसी लोभ से पढ़ता है कि वहाँ काव्य-रचना के चुने हुए उदाहरण सुलभ रूप में मिल जाते हैं।

इसके विपरीत अधिकांश पाठक, जिनमें प्रधानतया वे ही लोग होते हैं जो आलोचक वनने की धुन में हैं, साहित्य-शास्त्र को इस उद्देश्य से पढ़ते हैं कि वे शीघ्रता से कुछ ऐसे सूत्रों को पा जायँ जिनकी मदद से वे जल्दी-से-जल्दी साहित्य के निर्णायको की पक्ति में स्थान पा जायँ। ऐसे पाठको का लक्ष्य साहित्य का अधिक रस लेना, अथवा रस लेने की क्षमता उत्पन्न करना, उतना नहीं होता जितना कि एक प्रकार की शक्ति या अस्त्रो का संचय कर लेना। वे लोग स्वयं अपने शिक्षण अथवा 'डिसिप्लिन' के लिए नहीं, अपितु लेखक-वर्ग पर हुकूमत या शासन करने के लिए, साहित्य-शास्त्र पढते हैं। और क्योंकि साहित्य-शास्त्र का परिज्ञान काफी मेहनत से होता है, इसलिए उनमें स्वभावत यह धारणा उत्पन्न हो जाती है कि उन्होने साहित्यिक सिद्धान्तों के रूप में किसी बहुत वडी चीज़ को हस्तगत कर लिया है। इस प्रकार के आलोचक-अध्येताओ में ऐसे कम ही होते हैं जो स्वयं साहित्य के अध्ययन में गहरा चाव रखते हो और उसके द्वारा अपनी रस-संवेदना का निरन्तर परिष्कार करते रहते हो। इन शक्ति-लिप्सु आलोचक-पाठको में प्राय. जिज्ञासा-वृत्ति भी तीव्र नहीं होती। फलत. वे इसका प्रयत्न भी नहीं करते कि वाद के अध्ययन द्वारा साहित्य-शास्त्रियो के वताये हुए सिद्धान्त-सूत्रो की परीक्षा करने का प्रयत्न करें। किन्तु जो साहित्य के प्रकृत विचारक होते हैं वे साहित्य-शास्त्र को प्राय. लगातार अपने अध्ययन द्वारा आंकते हैं।

साहित्य के स्वतन्त्र विचारक को कुछ और भी करना पडता है। उसे देखना होता है कि विशिष्ट प्राचीन विचारक ने काव्य-सौष्ठव के उपादानो को कहाँ तक ठीक से देखा और वर्गीकृत किया है। दूसरे, वह यह निश्चय करने का प्रयत्न करता है कि साहित्य-मीमासको द्वारा दिये गए सिद्धान्त-सूत्र कहाँ

तक अनुभूत साहित्यिक विशेषताओं की सन्तोषप्रद व्याख्या कर पाते हैं। एक वस्तुत. मौलिक विचारक साहित्यिक सौष्ठव के उपादनो को अपनी निजी दृष्टि से देखने तथा समझने का प्रयास करता है।

: ३ :

प्राचीन साहित्य-शास्त्र

संस्कृत-साहित्य का स्थान विश्व के चार-छः विकसित साहित्यो के साथ है। प्राचीन साहित्यो में यूनानी साहित्य का भी उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। बाद के साहित्यो में तो अँग्रेजी, फ्रेञ्च, जर्मन आदि साहित्यो का भी नाम लिया जा सकता है। ये सभी साहित्य सम्पूर्ण अर्थ में प्रौढ़ साहित्य हैं। यह प्रौढ़ता से तात्पर्य दो चीजो से है: एक अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता, दूसरे अभिव्यक्त सवेदना की प्रौढ़ता। दोनो दृष्टियो से प्रौढ़ साहित्य एक सुसंस्कृत, स्वतन्त्र जाति द्वारा ही उत्पन्न किया जा सकता है। सस्कृत-साहित्य के निर्माता इसी प्रकार की सभ्य एव सस्कृत जातीय चेतना के प्रतिनिधि थे, इसीलिए संस्कृत का 'क्लासिकल' साहित्य पूर्ण अर्थ में प्रौढ़ साहित्य बन सका है। इसके विपरीत हिन्दी-साहित्य में—जिसके प्रतिनिधि कवि विद्यापति, जायसी, सूर, तुलसी और बिहारीलाल हैं—अभिव्यक्तिगत प्रौढ़ता तो है, किंतु जीवन-सवेदना की परिपूर्णता एव परिपक्वता नहीं है। हिन्दी के साहित्यकों ने अपने लम्बे इतिहास में मौलिक काव्य-शास्त्र का सृजन नहीं किया, उनकी नीति तथा जीवन-विवेक भी प्राचीन विचारको से ग्रहण किया गया है। जीवन-संवेदना की दृष्टि से संस्कृत-काव्य की तुलना में हिन्दी-साहित्य एकांगी अथच अस्वस्थ सीमा तक धार्मिक अथवा परलोक-परायण है।

हम यह कहना चाह रहे है कि क्योकि सस्कृत-साहित्य-शास्त्र एक नितान्त प्रौढ़ साहित्यिक परम्परा के विश्लेषण पर आधारित है, इसलिए उसका अध्ययन रस-संवेदना के परिष्कार एवं चिन्तन की योग्यता के सम्पादन, दोनो दृष्टियो से विशेष उपयोगी होना चाहिए। किंतु किसी अध्येता में इस उपयोगिता का पूर्ण प्रतिफलन तभी हो सकता है, जब वह सस्कृत काव्य-शास्त्र का अध्ययन संस्कृत-ग्रन्थों के उदाहरणो के सम्पर्क में ही करे। कुछ आगे चलकर हम इस मन्तव्य को उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे।

यहाँ सस्कृत-साहित्य-शास्त्र की कुछ सीमाओ का निर्देश करना भी आवश्यक है। ये सीमाएँ कुछ हद तक उस जीवन की सीमाओं से सम्बन्धित है जिनकी अभिव्यक्ति सस्कृत-साहित्य में हुई है। यूरोप, विशेषत आधुनिक यूरोप की और प्राचीन यूनान की भी तुलना में भारतीय जीवन-धारा की प्रगति मन्थर

रही है। हमारे इतिहास में फ्रांस तथा रूस जैसी राजनीतिक-आर्थिक क्रान्तियाँ प्रायः कभी नहीं हुईं; राजनीतिक उथल-पुथल के नाम पर यहाँ शासन-प्रणालियों का नहीं, शासक व्यक्तियों अथवा वंशों का ही परिवर्तन होता रहा। विश्वासियों एवं अनुयायियों के इस देश में विचारगत क्रान्तियाँ भी कम ही हुई हैं। वस्तुतः हमारी समन्वयवाद की 'स्पिरिट' क्रांतिकारी उथल-पुथल की विरोधी रही है। यही कारण है कि संस्कृत-साहित्य शास्त्र में हम समाज-शास्त्रीय अथवा ऐतिहासिक आलोचना जैसी चीज़ को उगते हुए नहीं पाते। संस्कृत-साहित्य-मीमांसक साधारण तौर पर यह जानते थे कि काव्य नैतिक जीवन को प्रभावित करता है, किंतु इस प्रभाव की गहराई एवं विस्तार की ठीक चेतना उन्हें नहीं थी। न वे यही समझते थे कि साहित्य का अपने देश-काल से आवश्यक लगाव होता है। सच पूछिये तो उनका समग्र साहित्यिक चिन्तन इस मान्यता पर अवलम्बित है कि मनुष्य का व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन युग-युग में प्रायः वही बना रहता है। उनके मस्तिष्क में यह बात भी कभी आई नहीं आई कि जीवन-मूल्यों के निर्धारण में शास्त्रवेत्ता धर्माचार्यों एवं दार्शनिकों के अतिरिक्त साहित्यकारों का भी हाथ हो सकता है। यदि कोई प्राचीन साहित्य-मीमांसक आज आकर कविवर माइकेल मधुसूदनदत्त का 'मेघनाद वध'—जिसमें राम को नहीं, रावण को श्रेष्ठ घोषित किया गया है—पढ़े, तो उसे आश्चर्य और क्षोभ से सिर पीटकर रह जाना पड़े।

संक्षेप में, संस्कृत के साहित्य-शास्त्रियों को यह चेतना नहीं है कि साहित्यगत मूल्य युग-जीवन से भी निर्धारित या सम्बद्ध होते हैं। न उन्हें यही अवगति है कि एक महान् कलाकार किसी जाति या युग के समूचे जीवन की सम्भावनाओं का उद्घाटन या निरूपण करता है। फलतः जब कभी ये विचारक दो कवियों की तुलना करने बैठते हैं तो उनकी अभिव्यक्तिगत विशेषताओं के अतिरिक्त दूसरी चीज़ें प्रायः बिलकुल ही नहीं देख पाते। संस्कृत के किसी साहित्य-मीमांसक में आपको इस चेतना का आभास नहीं मिलेगा कि माघ अथवा श्रीहर्ष से कालिदास इसलिए श्रेष्ठतर हैं कि उन्होंने भारतीय जीवन एवं संस्कृति को अधिक समग्रता में उद्घाटित या चित्रित किया है।

इस आलोचना से एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है: यह जरूरी नहीं कि एक महान् कलाकार का पूर्ण मूल्यांकन उसके समय में हो जाय। किसी भी समुन्नत युग की श्रेष्ठ कला-कृति जितनी पूर्ण होती है, यह

आवश्यक नहीं कि उस युग का साहित्य-शास्त्र उतना ही पूर्ण हो। किसी भी युग में जीवन को समझने के प्रयत्न जीवन की समग्र जटिलता को पूर्णतया विश्लेषित करके समझ लें, यह जरूरी नहीं है। यही कारण है कि आज का श्रेष्ठ आलोचक कालिदास पर जितना सुन्दर समीक्षा-ग्रथ लिख सकता है, वैसा प्राचीन काल के किसी आचार्य के लिए सम्भव नहीं था। वस्तुतः प्राचीन साहित्य-शास्त्रियो ने जहाँ काव्य को रस तथा अलकारों की कसौटियों पर कसने का प्रयत्न किया, वहाँ उसे जीवन की जटिलताओ से सुसम्बद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया। कारण यह था कि उन युगों में जीवन के विभिन्न क्षेत्रो में आज-जैसी क्रान्तियाँ नहीं होती थीं। अतएव, जीवन के स्थिर पहलुओ की अभिव्यक्ति में कोई विशेष ध्यान देने योग्य चीज़ न पाकर, प्राचीन साहित्य-शास्त्री अभिव्यक्तिगत निरालेपन—वक्रोक्ति तथा अलकारो—को समझने का विशेष प्रयत्न करते रहे।

: ४ :

रस-निरूपण के अतिरिक्त भारत के प्राचीन साहित्याचार्यों ने काव्याभिव्यक्ति के गुण-दोषो का जैसा विशद विवेचन किया है, वैसा अन्य किसी देश में मिलना कठिन है। भारतीय साहित्य-मीमासक की दृष्टि में जीवन के विभिन्न पक्ष समान रूप में कलात्मक अभिव्यक्ति के विषय थे; रसो की विभिन्नता इसी तथ्य का स्वीकरण है। वहाँ भी शृङ्गार-रस की प्रधानता इसकी द्योतक है कि प्राचीन काल में साहित्य मुख्यत. आनन्द के लिए लिखा और पढा जाता था। नाटक की विशिष्ट महत्ता का भी यही रहस्य है। आज के युग में नाटक साहित्य का उतना महत्त्वपूर्ण अंग नहीं रह गया है—क्योंकि वर्तमान जीवन की गहन जटिलता रगमच पर अभिनय द्वारा प्रदर्शनीय नहीं है। उस समय साहित्य पर राज्य का नियन्त्रण नहीं था, और न साहित्य में किसी ऐसे संघर्ष का चित्रण ही रहता था जो राज-शक्ति के लिए ख़तरनाक हो। इसलिए साहित्य के विचारक, काव्य में अभिव्यक्ति पाने वाले जीवन की ओर से निश्चिन्त होकर, उस अभिव्यक्ति की पूर्णता के विधायक तत्त्वो की ओर विशेष ध्यान दे सके। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि उस युग के श्रेष्ठ साहित्यकार, साहित्यशास्त्रीय विश्लेषण से पहले ही, वैसी पूर्णता को प्राप्त कर चुके थे। अपनी इस अभिव्यक्तिगत पूर्णता के कारण ही प्राचीन 'क्लासिकल' साहित्य आगे आने वाले युगो के लिए चिरन्तन आदर्श बना रहा है।

हम यह नहीं मानते कि प्राचीन विचारकों ने अभिव्यक्तिगत पूर्णता का जो विश्लेषण किया है, उसके उपादानों या उपकरणो की जो व्याख्या की है,

वह अन्तिम या पूर्णतया सही है; किन्तु हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि इस पूर्णता की जैसी चेतना प्राचीन साहित्यकारो एवं साहित्य-शास्त्रियो में थी वैसी आज के लेखको तथा विचारको में (विशेषतः अपने देश में) नहीं है। यही कारण है कि आज के लेखको की नई-से-नई अनुभूति, उनकी नई-से नई दृष्टि का प्रतिपादन,सशक्त एवं सप्राण अभिव्यक्ति के अभाव में प्रभावहीन बनकर विस्मृत हो जाता है। इस दृष्टि से छायावाद की श्रेष्ठतम रचनाएँ 'बिहारी की सतसई' की कठिनता से होड़ ले सकती है; प्रगतिवादी काव्य की स्थिति तो और भी खराब है।

हमारे मतानुसार काव्य-साहित्य में अभिव्यक्तिगत पूर्णता की प्रतिष्ठा वहाँ होती है जहाँ अभिव्यक्त जीवन-स्पन्दन स्पष्ट एवं प्रभविष्णु रूप ले पाता है। निबद्ध अनुभूति के अनुरूप ही अभिव्यक्ति की भाषा मधुर अथवा कर्कश, रसाकुल अथवा बौद्धिक, चित्रमयी अथवा भावना-प्रदान, तरह-तरह की हो सकती हैं। इस सम्बन्ध में प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने अनेकानेक नियमो-उपनियमो का सकेत किया है, किन्तु मुख्य चीज है उनकी वह अन्तर्दृष्टि, जो न्यूनाधिक पूर्ण अभिव्यक्तियो के सूक्ष्म अन्तर को बिना सन्देह के देख और पकड़ लेती है।

केवल एक उदाहरण से हम प्राचीन साहित्य-शास्त्र की इस महत्त्वपूर्ण लब्धि का आभास देंगे। 'काव्यालकार-सूत्र तथा उसकी वृत्ति' के लेखक वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है। यह रीति विशेष प्रकार की, अथवा विशिष्ट गुणो वाली, पद-योजना है। इन गुणो का शब्द तथा अर्थ दोनो से सम्बन्ध होता है। वामन का विचार है कि कालिदास के निम्न श्लोक में 'वैदर्भी' रीति है, जिसका मतलब है कि उसमें काव्य-सौन्दर्य के विधायक अशेष गुण पाये जाते हैं। श्लोक निम्नलिखित है :

> गाहन्ता महिषा निपान-सलिल शृगैर्मुहुस्ताडितम्।
> छायाबद्धकदम्बक मृगकुल रोमन्थमभ्यस्यतु ॥
> विस्रब्ध क्रियता वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले।
> विश्राम लभतामिद च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥

यह पद्य 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का है। अर्थ सीधा है . शकुन्तला में अनुराग हो जाने के बाद दुष्यन्त मृगया के कठोर कर्म को बन्द करके त्रासहीन, शान्त वातावरण के उत्पन्न होने की कामना करता है—"बार-बार अपने सींगों से ताडित करती हुई भैंसें अब नि शक पोखर के जल में किलोल करें, छाया में झुण्ड बनाकर बैठे हुए हिरण जुगाली करें, विश्वस्त भाव से वराहो के सरदार

जल में प्रविष्ट होकर मुस्ता (एक प्रकार की घास) का उत्खनन करें; और हमारा यह धनुष भी, डोरी के बन्धन को शिथिल करके, विश्राम-लाभ करे।"

वामन के एक प्रसिद्ध टीकाकार का मत है कि उक्त पद्य में ओज, प्रसाद तथा माधुर्यगुण अपनी परिपूर्णता में विद्यमान हैं। इसी प्रकार समता, सौकुमार्य, उदारता, कान्ति, अर्थव्यक्ति आदि गुण भी उसमें उपस्थित हैं। इस सम्प्रदाय के अनुसार उक्त श्लोक में ही नहीं, कालिदास की प्रायः समस्त रचनाओं में, 'वैदर्भी' रीति का पूर्ण निर्वाह किया गया है। हम नहीं जानते कि आज के प्रगतिवादी, क्रान्तिवादी, प्रयोगवादी, ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक समीक्षक कालिदास की उक्त विशेषता अथवा वामन की उक्त प्रशंसा का क्या अर्थ लगायेंगे और उस विशेषता या प्रशंसा को अपने अभिमत सिद्धान्तो की भाषा में किस प्रकार प्रकट करेंगे, किन्तु यह निश्चित है कि कोई भी रसज्ञ पाठक अथवा जिम्मेदार आलोचक कालिदास के कृतित्व के इस पहलू की उपेक्षा नहीं कर सकता। और समकालीन आलोचको के प्रभाव में, जो लेखक अभिव्यक्ति के उक्त गुणों की उपेक्षा करता है, वह विश्व-साहित्य को कोई स्थायी चीज दे सकता है, इसमें सन्देह है।

हम यह कहना चाहते हैं कि 'क्लासिकल' साहित्य के विश्लेषको ने आकुलताहीन अवकाश के उस युग में पूर्ण अभिव्यक्ति की जिन विशेषताओ का साक्षात्कार किया था उसकी चेतना प्राप्त करना हमारे अपरिपक्व साहित्य के अर्धविकसित लेखको के लिए नितान्त आवश्यक है। हमारे समीक्षको के लिए भी, जो आजकल विभिन्न वादो और सिद्धान्तो से आक्रान्त एवं आतंकित है, यह कम आवश्यक नहीं है कि वे साम्प्रदायिक लेखकों से, अनुभूति की दिशा एवं क्षेत्र से भिन्न, उसकी उस सचाई एवं परिपक्वता की माँग करें जो अभिव्यक्तिगत पूर्णता में प्रतिफलित होती है।

आज स्थिति यह है कि वे आलोचक, जो अभिव्यक्ति की जरूरतों से परिचित हैं, लेखकों को नये अनुभव-क्षेत्रो के उद्घाटन तथा प्रकाशन की छूट नहीं देना चाहते—वे चाहते हैं कि नवीन लेखक बनी-बनाई लीकों पर चलते हुए घिसे हुए, पुराने विषयो पर लिखते रहें, इसके विपरीत नवीनतावादी आलोचक, जिनमें अधिकाश 'क्लासिकल' साहित्य के अभिव्यक्तिगत सौष्ठव से अपरिचित हैं, केवल अनुभूति के विशिष्ट रूपो, क्षेत्रो एवं दिशाओ की ही माँग करते हैं और इसकी परवाह नहीं करते कि उनके अभिमत लेखक कहाँ तक अपने कृतित्व को प्रौढता के धरातल पर ले जा सके हैं। ये दोनो ही प्रकार के आलोचक हमारी साहित्य-सृष्टि के सफल अभियान के लिए खतरनाक हैं। सब प्रकार का अर्ध-

सत्य खतरनाक होता है; आलोचक का अर्ध-सत्य स्रष्टा के अर्ध-सत्य से कहीं अधिक हानिकर और संकटावह बन जाता है। बात यह है कि समीक्षक मानवीय संस्कृति के मानो का संरक्षक है; एकांगी होकर वह विशिष्ट क्षेत्र में जितना अहित कर सकता है, उतना एकांगी साहित्यकार नहीं। साहित्यकार का काम, शायद, केवल अपने युग की चेतना से चल जाय, किन्तु समीक्षक के लिए यह अनिवार्य है कि वह युग-युग की उच्च सांस्कृतिक अभिव्यक्तियो से सुपरिचित हो।

: ५

अतिरिक्त टिप्पणी

वामन, जिसे 'वैदर्भी' रीति कहता है उसके अंगभूत गुणो की व्याख्या करने का उसने सतर्क प्रयत्न किया है। टीकाकारो ने समझाया है कि किस प्रकार कालिदास के उद्धृत पद्य में विभिन्न गुणो की स्थिति है। विस्तार के भय से हमें इन नितान्त रोचक विवरणों को छोड देना पडा है। कहीं-कहीं लगता है कि वामन द्वारा कथित काव्य गुण परस्पर विरोधी है, जैसे—पदो की सघन या समासयुक्त योजना ओज गुण है और शिथिल योजना प्रसाद गुण है। वामन ने इस आपत्ति का निराकरण करने की कोशिश की है, किन्तु, शायद, सफल नहीं हुआ है। पाठको को हम फिर स्मरण दिलाएँ—महत्त्व की बात यह जानना उतना नहीं है कि वामन ने अभिव्यक्तिगत पूर्णता का किस प्रकार विश्लेषण या व्याख्या की है; ज्यादा महत्त्व की बात है इस पूर्णता के विभिन्न स्तरो की चेतना होना। 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' में जगह-जगह इस चेतना के उल्लेखनीय निदर्शन हैं। उदाहरण के लिए विभिन्न शब्द-गुणो की व्याख्या करते हुए वामन ने बतलाया है कि नियोजित पदावली के थोड़े हेर-फेर से किस प्रकार अभिव्यक्ति-सौन्दर्य में कमी-बेशी हो जाती है। यथा :

(१) 'भ्रमरी मंजु गीतय.' में श्लेष गुण है; 'भ्रमरी वल्गु गीतयः' में नहीं है।

(२) 'स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीना, झणिति रणितमासीत्तत्र चित्र कलञ्च' में उदारता गुण की अवस्थिति है; 'चरणकमललग्नैर्नूपुरैर्नर्तकीना, झटिति रणितमासीन्मंजु चित्रं च तत्र' में नहीं।

काव्य-सौष्ठव के स्तरो के इस सूक्ष्म अन्तर को हृदयंगम करने के लिए विकसित संवेदना की अपेक्षा है। शायद कुछ पाठक समझें कि इस प्रकार का भेद-निरूपण कोरा पाण्डित्य-प्रदर्शन है और प्राचीन साहित्य-शास्त्रियो का खामखयालीपन-मात्र है। बात ऐसी नहीं है। आधुनिक काल के अन्यतम कवि-समीक्षक टी० एस० इलियट ने शेक्सपियर, क्रिस्टोफर मॉरलो आदि की तुलना

करते हुए उनकी समान दीखने वाली पंक्तियो में अन्तर देखने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार का अन्तर देखने, महसूस करने की क्षमता उच्चकोटि की काव्य-रचना और उसके मूल्याकन दोनों के लिए जरूरी है। हिन्दी में इस क्षमता के अभाव का एक महत्त्वपूर्ण निदर्शन प्रसाद का 'कामायनी' काव्य और उसकी स्तुतिमूलक समीक्षाएँ हैं।

अभिव्यक्ति की प्रौढता अन्तत अनुभूति की प्रौढ़ता का प्रतिफलन-मात्र है। कवि किसी भी जीवन-दर्शन को मानने वाला क्यो न हो—चाहे वह ईश्वरवादी हो अथवा नास्तिक, भौतिकवादी हो अथवा सशयवादी—उसे कभी भी कलात्मक महत्त्व के उक्त पैमाने की अवहेलना का अधिकार नहीं मिल सकता। किसी भी वाद या जीवन-दर्शन की परिधि में एक लेखक प्रौढ़-सवेदना-सम्पन्न भी हो सकता है और अप्रौढ़ या अपरिपक्व भी। समीक्षा का एक प्रमुख कार्य यह है कि वह लेखक-विशेष के कृतित्व की पूर्णता अथवा परिपक्वता की जाँच करे। पिछले पच्चीस-तीस वर्षों से, अर्थात् हिन्दी समीक्षा के जन्म-काल से ही, हमारे समीक्षक ठीक यही काम नहीं करते रहे हैं। जीवन-दर्शन पर गौरव देने की झोक में वे यह पूछना भूलते रहे हैं कि विशिष्ट जीवन-दृष्टि की अभिव्यक्ति 'अण्डर-ग्रेजुएट' धरातल पर हो रही है, अथवा विश्व के श्रेष्ठतम मनीषियो की चेतना एव रस-सवेदना के धरातल पर। 'कामायनी' आदि में निबद्ध दार्शनिक विचारो की अतिशय प्रशंसा के रूप में हमारी समीक्षा की यह अप्रौढ़ता निःसंकोच स्पष्टता से प्रकाशित होती रही है।

: ५ :

प्रगति और परम्परा

मनुष्य तथा दूसरे जीवो में अनेक अन्तर है। उनमें एक मुख्य अन्तर यह है कि मनुष्य सकेतमयी भाषा का प्रयोग करता है, जिसके फलस्वरूप वह अपने ज्ञान और अनुभव को न सिर्फ सचित ही कर लेता है बल्कि दूसरो तक पहुँचा भी देता है। महात्मा बुद्ध तथा गाँधी जी ने जीवन की नैतिक गुत्थियो के सम्बन्ध में जो-कुछ सोचा था वह हमें आज भी उनकी लिखित रचनाओ अथवा दूसरो द्वारा संगृहीत उपदेशो के रूप में उपलब्ध है। अतीत की इसप्रकार की महत्वपूर्ण धरोहर को परम्परा कहते है। सभ्य देशो के अधिवासी सदा से इस प्रकार की परम्परा से प्रभावित होते तथा उस में गर्व का अनुभव करते आये हैं। उदाहरण के लिए अग्रेज जाति को शेक्सपीयर एव न्यूटन पर गर्व है, तो जर्मन लोगो को गेटे, कान्ट और हीगल पर। इसी प्रकार भारतवासियों को अपने कालिदास, कुमारिल, शकर आदि मनीषियो अथवा उनकी कृतियों पर गर्व का अनुभव होता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मूल्यवान परम्परा एक वांछनीय वस्तु है।

किन्तु उक्त स्थिति का एक दूसरा पहलू भी है। परम्परा कभी-कभी किसी जाति को इतना जकड़ कर बाँध लेती है कि उस जाति के लिए नये युग की जरूरतों के अनुसार बदलना कठिन हो जाता है। आज का युग अनवरत घटित होने वाले परिवर्तनो का युग है। आज हम विद्रोह और क्रान्ति वांछनीय मानते हैं, तथा विद्रोही अथवा क्रान्तिकारी होना महत्व अथवा श्रेष्ठता का द्योतक समझा जाता है। यही नहीं, प्राचीन रूढियो पर चलने वालो को आज सन्देह एवं अवज्ञा की दृष्टि से देखा जाता है और लोक में 'परम्परावादी' अथवा 'रूढ़िवादी' होना हीनता का परिचायक माना जाता है। ऐसी स्थिति में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि परम्परा एवं विद्रोह की मर्यादायें क्या हैं, और दोनो में किसे कितना महत्व मिलना चाहिए। क्या प्राचीन महापुरुषों के सिद्धान्तो एवं उपदेशों को नम्रता एव श्रद्धा के साथ स्वीकार कर लेना चाहिए?

अथवा परिवर्तन, विद्रोह एवं नवीनता को ही प्रगति का पर्याय समझना चाहिए ? क्या प्रगति और परम्परा एक दूसरे के विरोधी तत्व है ? अथवा उनमें सामजस्य की सम्भावना भी है ? साहित्य के क्षेत्र में ये प्रश्न निम्न रूप लेते दिखाई देते है। क्या साहित्यकार को उन्हीं विषयों एव शैलियों का आश्रय लेना चाहिए जिनका उपयोग अतीत के साहित्यकारो ने किया है ? अथवा उन्हें नयी शैलियो में नये विषयो पर रचना करने का भी अधिकार है ? क्या नये साहित्यकारों के लिए पुराने साहित्य का कोई उपयोग होता है ? क्या साहित्यक उन्नति का अर्थ प्राचीन का परित्याग और नवीन का ग्रहण ही है ? क्या आज के पाठकों, आलोचकों एव साहित्यकारों के लिए ये जरूरी है कि वे पुराने साहित्य का अनुशीलन करें ?

इन प्रश्नों का ठीक उत्तर पाने के लिए हमें साहित्य तथा दूसरे सास्कृतिक प्रयत्नों के स्वरूप पर अन्तरंग दृष्टि डालनी पड़ेगी। अन्ततः सस्कृति कहते किसे है, और उसके विभिन्न रूपों एव अभिव्यक्तियों का मानव-जीवन के लिए उपयोग क्या है ? हमारी समझ में सस्कृति शब्द उन क्रियाओं, अनुभूतियों अथवा प्रयत्नों का द्योतक है जिनके द्वारा मनुष्य महत्वपूर्ण यथार्थ की सजग चेतना प्राप्त करता है और जिनके द्वारा उसका जीवन अधिक समृद्ध अथवा सृजनशील बनता है। दर्शन, विज्ञान तथा कला विभिन्भ क्षेत्रों में मनुष्य की चेतना का विस्तार करते हैं। चेतना का ही दूसरा नाम ज्ञान या अवगति है। किसी वास्तविकता के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके हम उस वास्तविकता पर नियन्त्रण करना सीखते है। उदाहरण के लिए भौतिक विज्ञान द्वारा जड़-प्रकृति का ज्ञान और उस पर नियंत्रण प्राप्त होता है। यों तो प्राकृतिक शक्तियाँ स्वत. ही सदैव कुछ-न-कुछ करती ही रहती है। किन्तु उनके नियमो की चेतना प्राप्त करके मनुष्य उन्हें नये अपने अनुकूल रूपों में ढालने लगता है जिससे उसकी सम्यता का उदय और विकास होता है। भौतिक शक्तियों का उपयोग मनुष्य व्यावहारिक धरातल पर करता है, किन्तु काव्य-साहित्य में वह जिन वास्तविकताओ की चेतना सचित करता हैं उनका उपयोग मुख्यत. सृजनात्मक, सचेत आनन्द के लिए होता है। एक चित्रकार रेखाओं के अभिनव संगठन द्वारा नवीन रूपो की सृष्टि करता है, किसलिए ? इसलिए कि उस सगठन के द्वारा वह अपनी सृजन-वृत्ति को चरितार्थ करके अभूतपूर्व आनन्द प्राप्त करता है। कलात्मक सृष्टि के मूल में मुख्यत' यही सृजनात्मक प्रेरणा रहती है।

एक और बात भी है। हमने कहा कि विज्ञान और कला दोनो ही में चेतना अथवा ज्ञान का संचय मुख्यत नये निर्माण के लिए होता है। किन्तु

यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य में चेतना की अपेक्षा निर्माण की आकांक्षा अधिक प्रबल है। वस्तुतः मनुष्य चेतना की खोज स्वय चेतना के लिए भी करता है। और जब वह निर्माण करने बैठता है तो उस व्यापार में चेतना के समस्त तत्त्वो का उपयोग कर डालना चाहता है। एक ओर मनुष्य चेतना-लाभ के किसी अवसर या उपादान को नहीं छोडना चाहता, दूसरी ओर वह अपने निर्माण में चेतना के समस्त उपकरणो का नियोजन कर लेना चाहता है। वस्तुत. विज्ञान, दर्शन और कला में भी यह कहना कठिन हो जाता कि विचारक अथवा कलाकार की चेतना निर्माण के लिए है, या निर्माण चेतना के लिए। यह प्रसिद्ध बात है कि महान वैज्ञानिक आविष्कारो अथवा व्यावहारिक लाभ या उपयोगिता के लिए अनुसधान नहीं करते। वैज्ञानिक तरह-तरह के प्रयोग एव स्थापनायें करता है, इसलिए नहीं कि वह प्रकृति पर नियंत्रण करना चाहता है, बल्कि इसलिए कि वह इस नाना-रूप विश्व का, गणित के प्रतीकों में, सम्पूर्ण विवरण अथवा चित्र उपस्थित कर देना चाहता है। एक ओर प्रयोगात्मक तथ्यों को व्यवस्थित अथवा सम्बद्ध करने की चेष्टा में वैज्ञानिक अपनी कल्पना का सृजनात्मक उपयोग करता है—स्थापनाओ की स्वच्छन्द सृष्टि करता है, दूसरी ओर वह यह कामना रखता है कि उसकी यह सृष्टि वास्तविकता का सच्चा चित्र प्रमाणित हो सके—परीक्षा द्वारा सत्य सिद्ध की जा सके। इसी प्रकार उपन्यासकार जहाँ एक ओर अपने पात्रों की सृष्टि में स्वतन्त्र होता है, वहाँ दूसरी ओर उसे यह चिन्ता भी होती हैं कि उसके पात्र पाठको को जीवत एवं सच्चे जान पड़ें। एक बडे कलाकार के उपन्यासों में एक दूसरी बात भी होती है—उनके पात्र, अपनी समग्रता में, अपनी जीवन-शृंखलाओं की विविधता में, प्राय युग-जीवन के समस्त महत्वपूर्ण तत्वों का उपयोग कर डालते हैं।

संक्षेप में, संस्कृति का अर्थ चेतनामूलक एवं सृजनात्मक जीवन का विकास है। मनुष्य कल्पनाशील प्राणी है। वह पहले योजनायें बनाता है और फिर उन योजनाओं को कार्यरूप में परिणित करता है। किसी भी योजना के बनाने का अर्थ है यथार्थ जगत के तत्वो अथवा शक्तियो के एक नए रूप या सगठन की कल्पना करना। इस प्रकार का संगठन प्रकृति द्वारा प्रस्तुत किया हुआ नहीं होता, उसे मनुष्य अपने प्रयत्नो द्वारा अस्तित्व में लाता है। सूर्य तथा चन्द्रमा प्रकृति ने उत्पन्न किये हैं, किन्तु बिजली की बत्तियाँ मानव-मस्तिष्क की सृष्टि हैं। इसी प्रकार रेल, तार, हवाईजहाज आदि पहले मनुष्य की कल्पना में जन्म लेकर बाद में अपने वर्तमान यथार्थ रूप में आविष्कृत किये जा सके हैं।

किन्तु मनुष्य अपनी कल्पना का उपयोग केवल व्यवहारिक उपयोगिता तक ही सीमित नहीं रखता, वह केवल आनन्द के लिए, केवल सौन्दर्य के लिए, तथा केवल ज्ञान के लिए भी उसका उपयोग करता है। मनुष्य को एकरसता पसन्द नहीं है, वह परिवर्तन तथा विविधता चाहता है। भौतिक वस्तुओ के व्यापार प्रायः एक ही तरह, एक ही दिशा में घटित होते हैं; पशु-पक्षियो की प्रतिक्रियाओ में भी विविधता एव परिवर्तन की सम्भावनायें नितात सीमित रहती हैं। इसके विपरीत मानवीय क्रिया-कलापों की विविधता की सीमा नहीं है। नर-विज्ञान के पण्डित जिसे 'कल्चर' कहते हैं उसके, विभिन्न मानव-समहो में, हजारों रूप पाये जाते हैं। विभिन्न देशो तथा जातियो के मनुष्य असंख्य ढंगों से खाते-पीते, वस्त्रों तथा आभूषणो से अपने को अलंकृत करते, तथा विवाह आदि उत्सव मनाते हैं। किसी बडी कपड़े की दूकान में चले जाइए, और आप पायेंगे मनुष्य ने शरीर ढकने की आदिम आवश्यकता को किस प्रकार अपने सौन्दर्य-सम्पादन का उपकरण बना डाला है। जान पडता है जैसे मनुष्य कहीं भी, किसी भी क्षेत्र में, केवल उपयोगिता के बन्धन को स्वीकार करके नहीं चलना चाहता। वह यह नहीं चाहता कि बाहरी अथवा भीतरी प्रकृति उसके जीवन को किसी खास दिशा में यंत्रवत निर्धारित कर दे। वाह्य एव आभ्यन्तर प्रकृति के रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करके वह अपने जीवन को निरन्तर विविध बनाता हुआ अपने स्वतन्त्र होने की घोषणा करता रहता है। सम्भवत. यही सब दृष्टि में रखकर स्पिनोजा तथा एगेल्स जैसे विचारको ने कहा है कि स्वतन्त्रता का अर्थ अवश्यम्भाविता की चेतना है। वाह्य तथा आन्तरिक प्रकृति के अटूट नियमो की जानकारी द्वारा, उन नियमो की मर्यादा के भीतर ही, मनुष्य अपने जीवनगत वैविध्य एव स्वतन्त्रता का विस्तार करता है।

सस्कृति की उपरोक्त व्याख्या के आलोक में ही हम प्रगति और परम्परा के सम्बन्ध को ठीक-ठीक समझ सकते हैं। प्रगति का अर्थ है बाहरी तथा भीतरी यथार्थ की चेतना का उत्तरोत्तर विस्तार। यथार्थ की चेतना दो-चार दिन में प्राप्त नहीं की जा सकती, और वह दो-चार मनुष्यो द्वारा भी उपलब्ध नहीं की जा सकती। यथार्थ के स्वरूप का आकलन एक ऐसा काम है जो सम्मिलित जनों अथवा जन-समूहो द्वारा अनवरत अनुष्ठित होता आया है और लगातार अनुष्ठित होता रहेगा। यही कारण है कि सभ्य मनुष्य कभी भी उस परम्परा को जो आज से उसे मुख्यत भाषा एव गणित के प्रतीको में, सगीत की स्वर-साधना में तथा चित्रकारो एव मूर्त्ति-शिल्पियो द्वारा खींची गयी रेखात्मक सीमाओ में, उपलब्ध है—छोड़कर नहीं चल सकता। आज हम अधिक-से-

अधिक विद्रोही एवं क्रान्तिकारी होते हुए भी न प्राचीन साहित्य की ही उपेक्षा कर सकते है, न अतीत विचार-पद्धत्तियो एव आदर्शों की ही। सच तो यह है कि हमारा वर्तमान एक ऐसा क्षरण मात्र है जो लगातार अतीत में परिरिणत हो रहा है। मानव-जीवन के किसी भी क्षरण में वे सव चीजें जिन पर वह गर्व करता है अतीत की धरोहर-रूप ही होती है। आज हम जिन ग्रन्थो को पढ़कर विचारशील बनते है और जिन कला-कृतियो का अनुशीलन करके अपनी रस-ग्राहिरणी वृत्ति को शिक्षित एव परिपुष्ट करते है उन सवका निर्मारण निकट या सुदूर अतीत में हुआ था।

ऐसी स्थिति में प्रगति एव प्रगतिवादिता का एक ही अर्थ हो सकता है—मानवता के चेतना-मूलक एवं सृजनात्मक जीवन को लगातार आगे की ओर बढाते चलना। प्रगतिशील कलाकार को आवश्यक रूप में पुरानी शैलियो, संगठन-प्रकारो में परिवर्तन, सशोधन अथवा क्रान्ति करनी पडती है; आवश्यक रूप में उसे अपनी कल: में नवीन विषय-वस्तु का समावेश करना पडता है। किन्तु इस सब का उद्देश्य एक ही होता है, मानव-मस्तिष्क में यथार्थ की अधिक समृद्ध चेतना उत्पन्न करना और सृजनात्मक सगठन के नये रूपों में मानव-जीवन की विविधता एवं स्वतन्त्रता का प्रसार करना। इस दृष्टि से देखने पर प्रगति एवं परम्परा की मांगों अथवा मर्यादाओ में कोई मौलिक विषमता या विरोध नहीं है।

: ६ :

प्रगतिवादी समीक्षा-दृष्टि : कुछ सीमायें

आज का युग द्रुत परिवर्तनो का युग है। मनुष्य के इतिहास में सम्भवतः कभी इतनी तेजी से परिवर्तन नहीं हुए, जैसे कि आज हो रहे है। ये परिवर्तन मनुष्य के सामाजिक परिवेश एव जीवन में तो हो ही रहे है; किन्तु उससे भी अधिक वे उसके आन्तरिक या आध्यात्मिक जीवन में घटित हो रहे है। आज का मनुष्य जीवन और जगत के प्रत्येक पहलू को नयी दृष्टि से देखने लगा है। साहित्य एक ऐसी वस्तु है जो प्रायः सब रसज्ञ पाठको को प्रभावित करती है। साहित्यिक रसास्वदन के क्षेत्र में विभिन्न देशो की सीमायें भी बाधा डालने में असमर्थ रहती है। दूसरे देशों के आचार-विचार तथा रीति-रिवाज हमें प्राय. अनोखे जान पड़ते है, और हम उनसे सहानुभूति नहीं कर पाते। किन्तु साहित्य के सम्बन्ध में ऐसा अनुभव नहीं होता, हम अंग्रेजी साहित्य में उतना ही रस पाते है, जितना कि स्वदेश के साहित्य में। यही कारण है कि आज विश्व में फ्रान्स तथा रूस के उपन्यासकारो एवं अग्रेजी कवियो का इतना मान है। हम कहना चाह रहे है कि साहित्य के रसास्वादन की इस सार्वभौमता के बावजूद आज हमारी तत्सम्बन्धी दृष्टि में बहुत अन्तर पड गया है।

हमारे देश के साहित्य-शास्त्रियो ने काव्य या साहित्य की एक बहुत सक्षिप्त किन्तु सारगर्भित परिभाषा दी थी; उनका कहना था कि रसात्मक वाक्य अथवा वाक्य-समूह साहित्य है। साहित्य की परीक्षा करते समय वे उसमें मुख्यत. रस की खोज करते थे, यों कभी-कभी अलकारो की खोज भी करते थे। यहाँ दो बातें 'नोट' करने योग्य है। प्राचीन साहित्यशास्त्री साहित्यकार से विचारो की अथवा जीवन-दर्शन की मांग नहीं करते थे। उन दिनो साहित्यकार जीवन के आदर्श अपने वातावरण से लेता था। दूसरे, प्राचीनकाल में यह नहीं समझा जाता था कि साहित्य का अपने युग से विशेष सम्बन्ध होता है। इसके विपरीत उस समय यह धारणा थी कि साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य के स्थायी मनोविकारो

से है। वस्तुत. रसवाद के अनुसार विभावो आदि के द्वारा स्थायीभाव की अभिव्यक्ति ही रस है।

वर्तमान काल में साहित्य के सम्बन्ध में हमारी धारणायें बहुत कुछ बदल गई हैं, और बदल रही हैं। चिन्तन के हर क्षेत्र में आज तरह-तरह के वाद उठ खड़े हुए हैं, साहित्य-समीक्षा भी इसका अपवाद नहीं है। आज के युग में दो प्रकार की समीक्षा विशेष प्रचलित है, एक मनोवैज्ञानिक और दूसरी समाज-शास्त्रीय। समाज-शास्त्रीय से मिलती-जुलती ही ऐतिहासिक समीक्षा-प्रणाली भी है। इसके अतिरिक्त कुछ समीक्षक अपने को अभिव्यञ्जनावादी और दूसरे अपने को प्रभाववादी भी कहते हैं। यहाँ हमें विशेष रूप में समीक्षा के उस दृष्टिकोण को समझना है जो मार्क्सवाद से सम्बन्धित है।

मार्क्सवाद एक जडवादी या भौतिकवादी दर्शन है। दर्शन में जडवाद या भौतिकवाद उस सिद्धान्त को कहते हैं जो अलौकिक सत्ताओ, जैसे आत्मा और परमात्मा में, विश्वास नहीं रखता। भौतिकवाद के अनुसार चेतन का अस्तित्व जड पर अवलम्बित है। भौतिक-तत्व की सत्ता पहले है, चेतन तत्व की बाद को। मार्क्सवाद का विरोध मुख्यत. अध्यात्मवाद से है। प्रसिद्ध अध्यात्मवादी हीगल ने कहा था कि विश्व का सारतत्त्व बुद्धि या बुद्धि-तत्त्व है। हीगल ने परब्रह्म को बुद्धि-रूप वर्णित किया है। जिसे हम मूर्तजगत कहते है, वह बुद्धि-तत्त्व अथवा प्रत्यय-जगत का ही घनीभूत रूप है। यह बुद्धितत्त्व भौतिक जगत में वैज्ञानिक नियमों के रूप में व्याप्त है। प्रकृति का अध्ययन करते हुये विज्ञान-वेत्ता इसी बुद्धितत्त्व को समझने का प्रयत्न करते हैं।

मार्क्सवाद का दर्शन उक्त सिद्धान्त का ठीक उलटा है। उसके अनुसार जड़तत्त्व की स्थिति पहले है, चेतन की बाद को, चेतना भौतिक परिवेश का प्रतिबिम्ब अथवा प्रतिफलन मात्र है। चेतना वह दर्पण है, जिसमें भौतिक जगत की छाया पडती है। मनुष्य के विचार बदलते हैं, इसलिए कि उसका भौतिक-सामाजिक परिवेश बदलता है। किसी भी समाज-व्यवस्था का मूलाधार उस व्यवस्था में पाये जाने वाले आर्थिक सम्बन्ध होते हैं। ये आर्थिक सम्बन्ध समाज-विशेष की सस्कृति अर्थात् उसके दर्शन, कला, साहित्य, नैतिक मान्यताओं आदि के रूप का निर्धारण करते हैं। किसी देश या युग में जिस प्रकार का आर्थिक ढाँचा होता है, उसी के अनुरूप राजनैतिक व्यवस्था, कला, दर्शन आदि की रूप-रेखा भी बनती है।

मार्क्सवादी समाज-दर्शन का एक दूसरा पहलू भी है। मार्क्सवाद के अनुसार कोई भी आर्थिक-व्यवस्था जन समूहो के विशिष्ट सम्बन्धो को जन्म देती

है। अतीत की प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में जनता दो भागों में विभाजित देखी जा सकती है, एक शोषक वर्ग और दूसरा शोषित वर्ग। इन वर्गों में सदैव गुप्त या प्रगट संघर्ष चलता रहता है। शोषक वर्ग प्रायः वर्तमान स्थिति का समर्थक तथा परिवर्तन का विरोधी होता है। वह प्रगति का भी विरोधी होता है। इसके विपरीत शोषित वर्ग धीरे-धीरे विद्रोही तथा परिवर्तन का पक्षपाती बन जाता है। शोषित वर्ग उत्पादन के नये साधनो के उपयोग का हिमायती होता है। मार्क्सवादियो का विचार है कि दर्शन, साहित्य आदि सास्कृतिक प्रयत्न हमेशा एक विशेष वर्ग के दृष्टिकोण को प्रतिफलित करते हैं।

अब हम भौतिकवादियों के समीक्षा-सम्बन्धी दृष्टिकोण का विशेष विचार करें। इस दृष्टि या दृष्टिकोण के दो मुख्य पहलू हैं। प्रथमत. मार्क्सवाद का विचार है कि श्रेष्ठ साहित्य वह है जो अपने समय के सामाजिक जीवन को अभिव्यक्ति देता है। प्राणवान साहित्य का विषय सामाजिक संघर्ष एव हलचल होने चाहिएँ। साहित्य में नाटक का विशेष स्थान है, और नाटक की विषय-वस्तु व्यक्तिगत नहीं सामाजिक होती है। प्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक ल्यूकैक्स ने अपनी पुस्तक 'योरपीय यथार्थवाद का अध्ययन' में यह प्रतिपादित किया है कि श्रेष्ठ उपन्यासकार मुख्यत. सामाजिक यथार्थ का चित्रण करते हैं। मार्क्सवादी समीक्षा की दूसरी महत्त्वपूर्ण धारणा यह है कि श्रेष्ठ साहित्य प्रगतिवादी होता है। इसका मतलब यह है कि उत्तम साहित्य अपने युग की प्रगतिशील शक्तियो का, जो प्रगतिशील परिवर्तन लाना चाहती है, साथ देता है। श्रेष्ठ लेखक उन परम्परावादी शक्तियो का विरोध करता है जो उन्नति के मार्ग में बाधा उपस्थित करती हैं।

तो, साहित्य का ऐतिहासिक मूल्यांकन किस प्रकार होना चाहिए ? मार्क्सवाद का उत्तर है, दो प्रकार से। एक तो हम यह देखने की कोशिश करें कि वह साहित्य अपने युग-जीवन का कितना सफल चित्र उपस्थित करता है—अपने युग की हलचल तथा सघर्षों का कितना सफल उद्घाटन करता है। और दूसरे हम यह देखने का प्रयत्न करें कि विशिष्ट साहित्यिक कृति अथवा साहित्यकार का दृष्टिकोण उदार एवं प्रगतिशील है या नहीं। सक्षेप में, किसी अतीत साहित्यिक कृति को सामने रखकर एक मार्क्सवादी समीक्षक जो मुख्य प्रश्न करता है वह यह है—इस कृति ने सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करते हुए अपने यग के जीवन को ऐतिहासिक विकास के क्रम में आगे वढने की कितनी प्रेरणा दी ?

प्रश्न है, ऊपर के दृष्टिकोण में कितनी सचाई है, और उसकी क्या सीमाएँ

हैं ? इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य सामाजिक जीवन को अभिव्यक्ति देता है, और उस जीवन के आदर्शों को हमारे सामने रखता है। अतएव इन दृष्टियों से साहित्य का मूल्याकन भी किया जा सकता है। किन्तु मार्क्सवाद इस प्रसग में कुछ और आगे बढ़ता है। उसका खयाल है कि वह इतिहास की प्रगति, अर्थात् मनुष्य की ऐतिहासिक प्रगति के नियमो की परिपूर्ण जानकारी रखता है, और उस जानकारी के आलोक में यह ठीक से निश्चय कर सकता है कि कोई साहित्यिक कृति, अपने युग में, प्रगतिशील थी या नहीं। मार्क्सवाद के इस विश्वास से हम सहमत नहीं हैं। मार्क्सवाद के अनुसार प्रगतिशील व्यवस्था वह है जिसमें उत्पादन के साधनो का पूरा-पूरा उपयोग होता है। किन्तु प्रगतिशील व्यवस्था के दूसरे प्रतिमान भी हो सकते हैं, जैसे मनुष्यो की पारस्परिक सहयोग और स्नेह की भावना, अथवा उनका काव्य-साहित्य तथा चिन्तन में अनुराग।

इसके अतिरिक्त हमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध दो बड़ी आपत्तियाँ हैं, जिनका हम क्रमशः विवरण देंगे। प्रथमतः मार्क्सवाद यह भुला देता है कि मनुष्य एक ऐतिहासिक एवं कल्पनाशील प्राणी है। वह केवल वर्तमान में ही नहीं रहता। उसका जीवन अतीत की स्मृतियो एवं भविष्य की कल्पनाओं से समृद्ध तथा सरस रहता है। आज जो हम सोचते और महसूस करते हैं वह केवल वर्त्तमान आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब नहीं है, और जो अतीत हमें प्रभावित करता है वह भी नितान्त जटिल और विविध है। हम बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण की कथा सुनते और चकित होते हैं, यद्यपि उस कथा का हमारी आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था से कोई भी बुद्धिगम्य सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार हम राम-कथा से भी प्रभावित होते हैं। अतीत के सहस्रो प्रश्न और भावनाएं आज हमारे जटिल मन-बुद्धि का अग बने हुए हैं। उनके अभाव में हम वह न रहेंगे जो अब हैं—उस दशा में हम आदिम मनुष्य के निकट पहुँच जायेंगे। जिस प्रकार एक प्रौढ़ व्यक्ति अपने बालकपन तथा यौवन की स्मृतियाँ खोकर एक नितान्त भिन्न छिछला व्यक्ति बन जाता है, वैसी ही दशा हमारी होगी, यदि हम अतीत काव्य, कला, दर्शन आदि की स्मृति खो देंगे। इस स्मृति के अभाव में हमारे समस्त वैज्ञानिक उपकरण हमारे सास्कृतिक व्यक्तित्व को अक्षुण्ण रखने में असमर्थ होंगे। हमारे आज के उत्पादन तथा यातायात के साधन विज्ञान पर निर्भर हैं, किन्तु सस्कृति का अर्थ केवल, अथवा मुख्य रूप में, वैज्ञानिक चेतना नहीं है। मार्क्सवाद यह समझाने में असमर्थ है कि आज कालिदास तथा शेक्सपियर, होमर और वाल्मीकि के ग्रथ हमारे लिये क्यो

महत्त्वपूर्ण हैं। यदि सस्कृति का अर्थ केवल वह चेतना और वे मान्यताएँ हैं जिनका युग की आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्ध है तो यह स्पष्ट है कि हमारे सास्कृतिक शिक्षण के लिये प्राचीन कला एवं साहित्य अपेक्षित नहीं हैं।

अब हम मार्क्सवादी समीक्षा-दृष्टि की दूसरी कमी पर आते है। समीक्षा का सफल सिद्धान्त वह है जो श्रेष्ठ कलाकारो की महत्ता को बुद्धिगम्य बना सके। साहित्यिक सिद्धान्तों की सृष्टि श्रेष्ठ साहित्य की व्याख्या के लिये होती है। मार्क्सवाद साहित्यिक विषय-वस्तु की सामाजिकता पर कुछ अधिक गौरव देता है। हमारी समझ में यह दृष्टिकोण अधूरा है। साहित्य का विषय केवल सामाजिक जीवन—अर्थात् वह जीवन जो आर्थिक, राजनैतिक तथा नैतिक व्यवस्था से निर्धारित होता है, या उससे सम्बन्धित रहता है—नहीं है। साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण विषय मनुष्यो के वे सम्बन्ध हैं जो उसकी मूल प्रवृत्तियो से सहचरित है, जैसे माँ और बालक का सम्बन्ध तथा प्रेमी और प्रेमिका का सम्बन्ध। ये सम्बन्ध प्रायः सभी सामाजिक व्यवस्थाओ में वही रहते है। यही कारण है कि कालिदास का 'मेघदूत' जिसकी विषय-वस्तु सामाजिक नहीं है एक महत्त्वपूर्ण काव्य है। इसी प्रकार सूरदास का बाल काव्य भी स्थायी महत्त्व की वस्तु है। विद्यापति तथा रवीन्द्रनाथ का अधिकांश काव्य प्रगीतात्मक एव असामाजिक है, फिर भी ये कवि महत्त्वपूर्ण हैं। कालिदास के 'मेघदूत' तथा विद्यापति के पदों को हम किसी सकुचित अर्थ में प्रगतिवादी भी नहीं कह सकते। उन्होंने इतिहास के दिशा-निर्धारण में कोई योग नहीं दिया है। यही बात सूर के बाल-काव्य पर लागू है। सच तो यह है कि काव्य-साहित्य हमारी रसात्मक चेतना का विस्तार एव परिष्कार करता है, और इसलिये हमें आनन्द देता है। उसके दूसरे उपयोग गौण है। बहुत पहले यही बात आचार्य मम्मट ने कही थी। मार्क्सवादी साहित्य-शास्त्र इस तथ्य को अस्वीकार करता है, इसीलिये वह अपूर्ण अथवा एकांगी है।

: ७ :

होनहार लेखकों से*

हिन्दी अब राष्ट्रभाषा बन गई है, वैसे भी वह लगभग बीस करोड़ लोगों की भाषा अर्थात् उनके सांस्कृतिक परिष्कार का माध्यम है। राष्ट्र-भाषा घोषित हो जाने पर भी अभी हिन्दी न तो केन्द्रीय सरकार के दफ्तरो में प्रवेश पा सकी है, न विश्व-विद्यालयो की उच्च कक्षाओ में। आप जानते है कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनने का काफी विरोध हुआ था, ,और आज भी उसके विरोधियो की आवाज बन्द नहीं है। अत. यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि बारह-तेरह वर्ष के बाद हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित एव सर्वमान्य हो ही जायगी।

हिन्दी के विरोध में कहा जाता रहा है कि उसका साहित्य, विशेषत. आधुनिक साहित्य, दूसरी कतिपय देशी भाषाओ के साहित्यो की तुलना में समृद्ध नहीं है, कि हिन्दी में उच्चकोटि के लेखको की कमी या अभाव है, कि हिन्दी ने कोई रवीन्द्र जैसा कवि अथवा शरच्चन्द्र जैसा उपन्यासकार पैदा नहीं किया, इत्यादि। मै इस प्रकार की आलोचनाओ से बहुत कम सहमत होना चाहता हूँ। फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि ऐसी आलोचनाओ में काफी सचाई है, विशेषतः यदि हम हिन्दी-साहित्य को समृद्ध योरपीय साहित्यो के सामने रख कर आंकने का प्रयत्न करें।

दूसरी ओर यह स्थिति है कि हिन्दी में अनगिनत लेखक है। मेरा अनुमान है कि अकेले कानपुर में कम-से-कम पचास कवि और उतने ही कथाकार होगे। मैं यह भी नहीं मानता कि हिन्दी भाषी प्रान्तो में प्रतिभाशाली लेखक पैदा नहीं होते, अथवा यहाँ प्रतिभा की कमी है। मेरा विश्वास है कि हमारे अधिकाश नये कवि जो बालकपन से स्वत ही कविता लिखने लगते है, निसर्गसिद्ध कवि होते है, यही बात कथाकारो के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। फिर क्या कारण है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में हम इतनी प्रतिकूल आलोचना सुनते है, और सुन कर मौन रह जाते है? इसका कारण, मेरी समझ में,

---

* डी० ए० वी० कालेज, कानपुर मे दिये हुए मौखिक भाषण का लिखित अनुवाद।

यही हो सकता है कि हमारे अधिकाश कवि, कथाकार आदि सृजन की ऊँचाइयो तक पहुँचने में असमर्थ रहते है, अर्थात् अपनी निसर्गसिद्ध प्रतिभा का पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर पाते। दूसरे शब्दो में कहा जा सकता है कि हमारे अधिकाश लेखक उतनी लगन से उच्चकोटि की वह साधना नहीं कर पाते जो साहित्य-सृष्टि का धरातल ऊँचा करने के लिए अनिवार्य रूप में अपेक्षित है। किसी ने कहा है--प्रतिभा एक प्रतिशत प्रेरणा है, और निन्यानबे-प्रतिशत पसीना अर्थात् परिश्रम। मतलब यह है कि जिन्हे हम प्रतिभाशाली कहते हैं वे प्राय· बड़े परिश्रमी साधक होते हैं। प्रश्न है, इस साधना का स्वरूप क्या है ? किस प्रकार हमारे नवयुवक लेखक अपने सृजन के धरातल को उच्चतर बना सकते हैं ? इस समय हम इसी महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश करेंगे।

साहित्यकार साधक के लिए सबसे अधिक अपेक्षित वस्तु है—महापुरुषो अथवा महान् लेखकों की कृतियो का घना परिचय। इन कृतियों को ही अंग्रेजी में 'क्लासिक्स' कहते हैं। 'क्लासिक्स' का परिचय साहित्यकार और समीक्षक दोनो के लिए समान रूप में जरूरी है। 'क्लासिक्स' के पढ़ने से जो मुख्य लाभ होता है वह है—रुचि का परिष्कार। उनके अध्ययन से आप यह महसूस करना सीखते हैं कि उच्चकोटि के भाव और भावाभिव्यक्ति क्या होते हैं। कविता लिखते समय कवि अक्सर एक पद के स्थान में दूसरे पद या शब्द की, और एक पंक्ति के स्थान में दूसरी पंक्ति की, नियोजना करता है, ताकि उसकी भाव-संवेदना अधिक सुन्दर अथवा प्रशस्त बन सके। इस प्रकार के परिवर्त्तन करते हुए, स्पष्ट ही, वह अपनी रुचि से नियन्त्रित होगा और उसकी यह रुचि अच्छे-बुरे साहित्य के पढ़ने से ही निर्मित होती है। उदाहरण के लिए जिस व्यक्ति ने साहित्य के नाम पर सिर्फ पं० राधेश्याम कथावाचक की रामायण पढ़ी है उसकी रुचि का धरातल एक होगा, और जिसने तुलसी के 'मानस' तथा वाल्मीकि के काव्य को पढ़ा है, उसकी रुचि का दूसरा। अन्ततः हमारी रुचि का मानदण्ड विश्व के श्रेष्ठतम कलाकारो की कृतियाँ ही हैं।

हिन्दी में कुछ लोगो का विचार है कि कवि के लिए विशेष अध्ययन अपेक्षित नहीं है तथा अच्छा कवि अच्छा आलोचक नहीं हो सकता, और इसके विपरीत भी। किन्तु यह मान्यता निराधार और भ्रामक है। अंग्रेजी लेखक टी० एस० इलियट अपनी पीढ़ी का सब से बड़ा कवि और सब से बड़ा आलोचक है। वह एक उच्चकोटि का विचारक भी है। उसने दार्शनिक ब्रेडले की शैली पर सुन्दर आलोचनात्मक लेख लिखा है ; और संस्कृति पर एक पूरी पुस्तक लिख डाली है। समीक्षक के रूप में उसने दाँते, शेक्सपीयर आदि पर

विस्तृत निबन्ध लिखे है तथा शेली आदि रोमान्टिक कवियो का पुनर्मूल्याकन किया है। इसी प्रकार जर्मनी का सर्वश्रेष्ठ कवि तथा नाटककार गेटे योरप का अन्यतम समीक्षक-विचारक भी है। रूसी टाल्स्टाय विश्व के दो-तीन सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकारो में है, उन्होने 'कला क्या है ?' नाम से एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। वे नवयुवक जो सचमुच महत्वपूर्ण लेखक बनना चाहते है इस भ्रामक धारणा से अपने को जल्दी-से-जल्दी मुक्त कर लें कि—कवि अथवा साहित्यकार केवल एक भावुक व्यक्ति होता है जिसे शिक्षित और समझदार होने की जरूरत नहीं। सचमुच ही कविता और मूर्खता में कोई आवश्यक लगाव नहीं है और यदि मूर्ख अथवा विचार-शून्य होना कवि बनने की आवश्यक शर्त हो तो, कम-से-कम मेरी दृष्टि में, कवि होना कोई वांछनीय वस्तु नहीं। अवश्य ही कवि अथवा साहित्यकार भावुक एव सवेदनशील व्यक्ति होता है; किन्तु साथ ही इसे न भूलना चाहिए कि विचारशील एवं गम्भीर व्यक्ति की भावनाओ में ही गहराई और ऊँचाई आ सकती है। विचारशील होने का अर्थ है जीवन के विभिन्न पहलुओ को अधिक स्पष्ट एवं सम्बद्ध रूप में देख सकना—जीवन की प्रत्येक छवि को देश-काल की विशाल पृष्ठभूमि में रख कर समझ और आँक सकना। हम साहित्यकारो के ग्रन्थो में उनके 'सन्देश' की खोज करते है, स्पष्ट ही एक विचारशून्य एवं विवेकहीन लेखक मानव-जाति को कोई महत्वपूर्ण सन्देश नहीं दे सकता।

वस्तुत विश्व में ऐसा कोई बडा लेखक नहीं हुआ जो अपने युग की ज्ञान-राशि से सुपरिचित न रहा हो। सूर और तुलसी हिन्दू दर्शन एवं संस्कृति तथा उसकी उलझनो से पूर्णतया परिचित थे। इसी प्रकार कालिदास, भारवि, माघ आदि कवियो में भारतीय दर्शन, राजनीति, धर्मशास्त्र आदि की गहरी जानकारी पाई जाती है। आधुनिक काल में रवीन्द्रनाथ पर्याप्त अधीत लेखक थे, जैसा कि उनकी गद्य-कृतियो—'साधना', 'रिलीजन ऑफ मैन,' आदि-से स्पष्ट प्रमाणित होता है।

हिन्दी के नवयुवक लेखको को न केवल हिन्दी-साहित्य को 'क्लासिक्स' का अच्छा परिचय होना चाहिए अपितु सस्कृति साहित्य की महनीय कृतियो का भी। तभी वे विशाल भारतीय सस्कृति की उचित अवगति प्राप्त कर सकेंगे। आज के हिन्दी लेखको के लिए यह भी बहुत जरूरी है वे समृद्ध योरपीय साहित्य का अच्छा परिचय प्राप्त करें।

'क्लासिक्स' को पढने का अर्थ अतीतवादी अथवा अतीतोन्मुख होना नहीं है; न उसका यही अर्थ है कि आप विद्रोही अथवा क्रान्तिकारी न बनें। उसका

यह मतलब भी नहीं कि आप हमेशा अतीत आदर्शों का राग अलापें और अपना लक्ष्य अतीत का पुनरुज्जीवन अथवा अनुकरण बना लें। कोई भी महत्वपूर्ण लेखक किसी भी क्षेत्र में अतीत की पुनरावृत्ति नहीं करता। एक नया लेखक अपनी महत्ता तब ही सिद्ध कर सकता है जब वह अपने वैयक्तिक माध्यम से अपनी निराली अनुभूतियो को अभिव्यक्ति दे। जो अनुभूति किसी पुराने कलाकार द्वारा पूर्ण अभिव्यक्ति पा चुकी उसे प्रकट करने के लिए आज एक नये लेखक की आवश्यकता नहीं। यही कारण है कि वे लेखक जो अतीत के महान् कलाकारो का अनुकरण करते है साहित्य के इतिहास में ऊँचा स्थान नहीं पाते। न जाने कितने कवियो ने 'मेघदूत' का अनुकरण किया, पर उनमें से कोई भी कालिदास का समकक्ष न बन सका। एक नया उदाहरण लीजिए। विदग्धता तथा वाणी की पूर्णता में 'उद्धवशतक' के लेखक रत्नाकर ब्रज के किसी कवि से पीछे नहीं हैं, फिर भी आप मानेंगे कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनका वह स्थान नहीं है जो पन्त, महादेवी अथवा प्रसाद और निराला का है। छायावादी कवि भारतेन्दु से भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। कारण यही है कि भारतेन्दु के काव्य में भी प्राचीन की झलक प्रधान है। शाश्वतवादी साहित्य-समीक्षकों को इन उदाहरणो से सबक़ लेना चाहिए।

'क्लासिक्स' के अध्ययन एवं अनुराग का अर्थ पुराणपथी होना नहीं है—जैसा कि दुर्भाग्यवश, इस देश के बहुत से वयोवृद्ध समझते हैं। 'क्लासिक्स' को हम दो प्रयोजनो से पढते है; एक, अपनी रुचियों का धरातल ऊँचा बनाने के लिए, और दूसरे, मानव-अनुभूतियो की महत्वपूर्ण धरोहर को आत्मसात् करने के लिए। इस धरोहर में वृद्धि करने के लिए ही आज के कलाकार और विचारक लिखते-सोचते हैं। अपने युग की विशिष्ट अनुभूतियो को प्रकट करने तथा विशिष्ट समस्याओ को सुलझाने का दायित्व शत-प्रतिशत हमारा अपना है। आज हम अपने युग-जीवन को अभिव्यक्ति देने के लिए कालिदास का उसी तरह आह्वान नहीं कर सकते जिस प्रकार अपनी नैतिक-दार्शनिक गुत्थियो को सुलझाने के लिए शकर और मनु का। 'क्लासिक्स' पढने से हमें यह गलत प्रेरणा नहीं मिलनी चाहिए कि स्वय हमें उतना ही काम नहीं करना है जितना कि कालिदास और शकर ने अपने समय में किया था।

हमारे देश के लेखको तथा विचारको के लिये एक नियम हो सकता है—वे प्राचीन साहित्य केवल अपने देश का पढ़ें और आधुनिक साहित्य योरपीय देशो का भी। इसका मतलब यह है कि हमारे लिए सस्कृत साहित्य पढ़ना जितना जरूरी है उतना प्राचीन यूनानी, रोमन, फारसी, चीनी आदि साहित्यो

का पढना नहीं। यो इन विभिन्न साहित्यो के अध्ययन से हम प्राचीन संस्कृतियों की तुलनात्मक दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं जो ग़लत कोटि की देशभक्ति एवं सांस्कृतिक अभिमान से बचे रहने के लिए जरूरी है।

अब तक हमने 'क्लासिक्स' की बात की। साहित्यकार का प्रधान और एक-मात्र उद्देश्य अपने युग-जीवन का उद्घाटन और अभिव्यक्ति है। इस युग-जीवन को समझ लेना हँसी-खेल नहीं है। वर्तमान युग के अनगिनत लेखक और विचारक उसकी सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक, दार्शनिक तथा धार्मिक गुत्थियो को समझने और सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। एक ओर मनुष्य का वर्तमान जीवन अतीत की असख्य मान्यताओ तथा परम्पराओ से प्रभावित है, दूसरी ओर, नवीन ज्ञान-विज्ञान के आलोक में, वह उन परम्पराओ के प्रति विद्रोही बन रहा है। अतएव उस जीवन को समझने के लिए हमें वर्तमान भौतिक-सामाजिक विज्ञानो तथा दर्शन से उतना ही परिचित होना होगा जितना कि अतीत की विचार-रूप धरोहर से। तभी हम वर्तमान युग के जीवन को उसकी सम्पूर्ण गहराई और विस्तार में समझ सकेंगे। जो अपने युग को इस प्रकार परखने की क्षमता रखता है वही अमर साहित्यकार के पद पर प्रतिष्ठित होने का स्वप्न देख सकता है।

संक्षेप में कहा जाय तो कलाकार की साधना जीवन की भाँति ही व्यापक एव सर्वतोमुखी होनी चाहिए। दर्शन, आचार-शास्त्र, राजनीति, अर्थ-विज्ञान आदि स्वयं जीवन के ही विभिन्न पहलुओ को समझने के प्रयत्न हैं। ये सब प्रयत्न परस्पर-सम्बद्ध हैं। इसलिए जिम्मेदार कलाकार उनमें से किसी की भी अवहेलना नहीं कर सकता। वह न प्लेटो की 'आदर्श राज्य' की कल्पना की उपेक्षा कर सकता है, न स्पेंगलर कृत सभ्यताओ के उत्थान-पतन की व्याख्या की। जीवन की दिशा के सम्बन्ध में ठीक से सोच सकने के लिए उसे वैराग्यवाद और भोगवाद दोनो की पोषक युक्तियो का ठीक से मूल्य आँकना होगा। मतलब यह कि श्रेष्ठ कलाकार को गहरे अर्थ में विचारशील और विवेकी होना चाहिए।

हमारी देशी-भाषाओ का शास्त्रीय साहित्य बहुत ही पिछड़ी अवस्था में है। इसके विपरीत प्राचीन सस्कृत का गद्य-साहित्य बहुत उन्नत है, यही बात योरपीय भाषाओ के आधुनिक साहित्य पर लागू है। अत उस लेखक के लिए जो सच्चे अर्थ में विचारशील बनना चाहता है, वर्तमान योरपीय साहित्य से परिचित होना बड़ा जरूरी है। साहित्य-प्रेमियो की भाषा में सहज गति होती है, अत भावी साहित्यकारो के लिए अग्रेजी अथवा किसी दूसरी योरपीय भाषा पर अधिकार कर लेना कठिन नहीं होना चाहिए। यदि कठिन भी हो, तो भी उसके

लिए प्रयत्न करना प्रत्येक उस युवक का जो अच्छा लेखक बनना चाहता है, कर्तव्य होना चाहिए। देश की वर्तमान स्थिति देखते हुए मैं नवयुवकों के सामने लेखकों की योग्यता का एक माप या पैमाना रखना चाहता हूँ—यह पैमाना है अंग्रेजी में अधिकारपूर्वक लिख सकने की योग्यता। अभी हिन्दी के दैनिक पत्रों का धरातल बहुत नीचा है, और मासिक पत्र-पत्रिकाओं की स्थिति भी सन्तोष-प्रद नहीं है। मैं चाहता हूँ कि हिन्दी का प्रत्येक लेखक इतनी योग्यता सम्पादित कर ले—और यह योग्यता सिर्फ भाषा की ही नहीं, विचारो की भी होगी—कि उसके लेख अंग्रेजी के दैनिक तथा मासिक साहित्य में स्थान पा सकें। इतनी योग्यता सम्पादित कर लेने का जहाँ यह अर्थ नहीं कि लेखक सम्पूर्ण विश्व को सिखाने अथवा सन्देश देने लायक बन गया, वहाँ यह अर्थ जरूर है कि वह देश के सुशिक्षितों के सामान्य बौद्धिक स्तर पर पहुँच गया है। मुझे यह देखकर बडी लज्जा और कष्ट होता है कि हिन्दी के किसी लेखक ने अभी तक अंग्रेजी में हिन्दी साहित्य का कोई ठोस इतिहास अथवा परिचय प्रस्तुत नहीं किया, यद्यपि हिन्दी-भाषी प्रान्तो में एक दर्जन के लगभग बडे विश्वविद्यालय और अनेक दर्जन डिग्री कॉलेज हैं। हिन्दी के जो विद्वान साक्षात् काव्य-साहित्य की सृष्टि में नहीं लगे हैं वे अब तक ऐसा क्यो नहीं कर सके, इसका उत्तर मेरी समझ से बाहर है। मेरा अनुमान है कि हिन्दी के अधिकाश आलोचक अभी तक अपने को दूसरे समृद्ध साहित्यो के विद्वान आलोचको का समकक्ष नहीं समझते, और शायद ठीक ही नहीं समझते, भले ही वे हिन्दी-भाषी जनता के सामने अपनी-अपनी बहुज्ञता का दावा तथा प्रदर्शन करते रहे हो। आशा है हिन्दी के समीक्षक तथा शिक्षक मेरे इन विचारो को धृष्टता न मानकर चुनौती के रूप में लेंगे। मेरी कामना है कि हिन्दी-भाषी प्रान्तो के बहुत से लेखक अधिकार-पूर्वक अंग्रेजी में अपने साहित्य तथा साहित्यकारो की चर्चा करने लायक बन जाय। जिस दिन हमारे अनेक लेखक इस योग्य बन चुकेंगे, उस दिन हिन्दी की साहित्य-सृष्टि एव साहित्य-समीक्षा का स्तर अवश्य ही उच्चतर बन गया होगा। उस दिन कोई सहसा हमारे साहित्य पर कटाक्ष करने का साहस नहीं करेगा, और न हम ऐसे कटाक्षो को असहाय मौन के साथ सहन ही करेंगे, जैसा कि अब तक करते चले आये हैं।

: ८ :

'रामचरितमानस'—एक मूल्यांकन

गोस्वामी तुलसीदास एक विश्व-विश्रुत महाकवि हैं। देश के ही नहीं, विदेश के आलोचकों ने भी उनकी, और विशेषतया उनके 'रामचरितमानस' की, मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है। कहा गया है, और यह ठीक भी है, कि उत्तरी-भारत में 'रामचरित मानस' उतना ही लोकप्रिय एव जीवन को प्रभावित करनेवाला महाग्रन्थ रहा है, जैसे कि योरपीय देशो में बाइबिल। इसमें सन्देह नहीं कि 'मानस' की यह प्रशसा बहुत-कुछ सही है। यह दूसरी बात है कि आजकल, कम से कम नगरो में, 'रामचरितमानस' का पठन-पाठन एव प्रचार कम होता जा रहा है; शायद योरप में बाइबिल का प्रचार भी कम हो रहा है।

'मानस' की इतनी प्रसिद्धि उसके सही मूल्याकन में एक बडी बाधा है। हिन्दी समीक्षकों के सामने एक दूसरी बाधा भी है—महान् समीक्षक पण्डित रामचन्द्र शुक्ल की यह घोषणा कि तुलसीदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। हिन्दी प्रेमियो के सम्मुख एक तीसरी बाधा भी खडी हो जाती है। हिन्दी अब राष्ट्रभाषा बन गई है, उसके विरोधी अभी तक हिन्दी-साहित्य को हीन सिद्ध करने के कुटिल प्रयत्न में लगे हुए है, ऐसी दशा में यह नितान्त आवश्यक है कि हम हिन्दी के साहित्यिक वैभव को बढ़ा-चढ़ाकर दूसरे भारतीय राज्यों तथा अन्य देशो के समक्ष उपस्थित करें। इन परिस्थितियो में क्यो कोई हिन्दी-प्रेमी समीक्षक तुलसीदास अथवा उनके 'मानस' की महत्ता के सम्बन्ध में शका-मूलक प्रश्न उठाये ?

किन्तु प्राचीन कवियो के पुनर्मूल्यांकन की समस्या का एक दूसरा पहलू भी है। यह कहना काफी नहीं है कि कोई कवि अथवा काव्य-कृति महान् है। किसी भी सभ्य जाति के लिये, जो सास्कृतिक दृष्टि से जीवन्त एव क्रियाशील बनी रहना चाहती है, यह आवश्यक है कि वह अपनी महनीय परम्परा से जीवित प्रेरणा लेती रहे। इस प्रकार की प्रेरणा लेने के लिये यह जरूरी

है कि हमारे हृदय और मस्तिष्क में उस परम्परा के सजीव एवं महत्त्वपूर्ण तत्वो की जागृत चेतना विद्यमान रहे। इस प्रकार की चेतना आवश्यक रूप में अच्छाई-बुराई के विवेक से सहचरित रहती है। मतलब यह है कि प्राचीन कवि हमारे साम्प्रतिक काव्य-सृजन में उसी हद तक सहायक हो सकते हैं जहाँ तक हमने उनके गुण-दोषों की विविक्त चेतना प्राप्त करली है। सक्षेप में हमारे लिये प्राचीन 'क्लासिकल' साहित्य का मुख्य उपयोग यह है कि वह हमारी संवेदना अथवा काव्य-रुचि को परिष्कृत एव परिमार्जित करते हुए हमें उच्च-कोटि का सृजन करने में मदद दे। जो जाति अपनी सास्कृतिक धरोहर का ठीक से मूल्याकन नहीं कर सकती, और उसे गलत हेतुओं से अच्छा या बुरा समझती है, वह सस्कृति के विभिन्न क्षेत्रो में ऊँचे प्रयत्न नहीं कर सकती। सच यह है कि प्रत्येक जीवित जाति अपने इतिहास के प्रत्येक युग में पुराने सास्कृतिक प्रयत्नों का फिर से मूल्याकन करती है; इसलिये कि इस प्रकार का मूल्याकन उसके सत्यान्वेषण एवं सास्कृतिक उत्थान की प्रक्रिया का आवश्यक अग है।

तात्पर्य यह कि किसी छोटे-मोटे मतलब या नीति से प्रेरित होकर हमें अपने कवियों के पुनर्मूल्याकन से आशकित या विरक्त नहीं होना चाहिये। हमें इस बात का कोई भय नहीं होना चाहिये कि कहीं सूक्ष्म छानबीन करने पर हमारा कोई माना हुआ लेखक हीन न सिद्ध हो जाय। तुलसीदास के साथ ऐसा कोई खतरा नहीं है। वे सचमुच ही इतने बडे कवि हैं कि खरे-से-खरे विश्लेषण की आँच को सह सकें। जिस बात में प्रस्तुत लेखक को सन्देह है वह यह है—कि 'रामचरितमानस' तुलसी के महत्त्व का श्रेष्ठतम प्रतीक है। हमारा विचार है कि जहाँ तुलसीदास नि सशय बहुत बडे कवि है, वहाँ 'रामचरितमानस' के अनेक स्थल विशेष उच्चकोटि के काव्य नहीं है। इसका यह भी मतलब हो सकता है कि 'मानस' के उक्तस्थल आज के पाठक को, जो तुलसी की दार्शनिक-धार्मिक भावनाओ से सहानुभूति नहीं रखता, श्रेष्ठ काव्य नहीं जान पड़ते।

यहाँ थोड़ा-सा सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण अपेक्षित है। हम मानते हैं कि कला तथा चिन्तन के श्रेष्ठतम प्रयत्न सार्वभौम होते हैं। चिन्तन की भाँति कला का उद्देश्य भी सर्वग्राह्य सत्यो का उद्घाटन या अभिव्यक्ति है। कला में रागात्मक मानव-जीवन की सत्य सभावनाओ का प्रकाशन होता है। साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब मात्र नहीं है। यथार्थ जीवन के तत्त्वो को लेकर साहित्यकार जीवन के ऐसे स्पन्दनों की सृष्टि करता है जो नवीन होते हुए भी यथार्थ जान

पड़ते हैं। इस प्रकार के स्पन्दनो, भावनाओं, एवं जीवन-चित्रो की उद्भावना या सृष्टि द्वारा कलाकार मानव-जीवन की सीमाओ में विस्तार करता है—मानव-जीवन को विस्तृत एवं समृद्ध बनाता है। यदि किसी विशिष्ट कलाकार के द्वारा उपस्थापित रागात्मक संभावनायें यथार्थ नहीं हैं तो वे पाठको के जीवन-स्पन्दन को नयी गति नहीं दे सकेंगी; यदि वे सम्भावनायें ऐसी हैं कि एक विशिष्ट वर्ग अथवा जाति को ही ग्राह्य हो सकेंगी, तो वे, उस अंश तक असार्वभौम हैं और इसलिये पूर्णतया सत्य नहीं है। एक दार्शनिक, जिसके विचार केवल उसके देश या जातिवालो को ही पसन्द आते हैं, उतना बडा विचारक नहीं कहला सकेगा जितना कि वह चिन्तक, जिसके विचार अनेक सभ्य जातियों अथवा राष्ट्रों के सदस्यो को महत्वपूर्ण जान पडते हैं।

आज हम मानते है कि काव्य-साहित्य का एकमात्र विषय मानव-जीवन है। तुलसी के अध्येता को असमंजस एव कठिनाई में डालने वाली बात यह है कि काव्य के सम्बन्ध में उनकी मान्यता आधुनिक सामान्य धारणा की ठीक उलटी है। गोस्वामी जी का विचार है कि कविता का, वाणी का, प्रकृत विषय प्राकृत नर का चरित्र-गान नहीं है—उसका विषय भगवान का विरुद-गान है। इस मान्यता के बावजूद यदि गोस्वामी जी आधुनिक पाठको की दृष्टि में कवि ही नहीं महाकवि हैं, तो इसका कारण यह है कि उनके आराध्य भगवान को मनुष्य का रूप धारण कर मानवोचित व्यवहार करना पडा था।

फिर भी यह ठीक है कि तुलसीदास का चिन्तित या अभीष्ट उद्देश्य मानवता के जीवन अथवा अन्तर्विकारो को चित्रित करना नहीं है। अपने प्रधान ग्रन्थ 'रामचरितमानस' में सचेत भाव से वे जिस जगत का चित्र खींचना चाहते थे वह मुख्यत. धार्मिक एव पौराणिक कल्पना द्वारा निर्मित जगत था, मानव-जगत नहीं। तुलसी का जगत प्रधान रूप में देवी-देवताओ, ऋषि-मुनियों, भक्तो और सन्तो तथा भगवान और उनके कृपा-पात्रो के अलौकिक व्यापारों का जगत है, उनके अधम पात्र उतने ही अलौकिक हैं जैसे कि धार्मिक पात्र, वहां साधारण नर-नारियो के साधारण लौकिक जीवन और मनोविकारो को बहुत सीमित स्थान है। राम की कथा प्राय. इस लोक की कथा है, अत. यह सम्भव था कि तुलसीदास उसे विशुद्ध लौकिक धरातल पर वर्णित करते, किन्तु उन्होने ऐसा किया नहीं। पूरे 'मानस' में केवल अयोध्याकाण्ड ही वह भाग है जहाँ राम-कथा मानवीय धरातल पर चलती है, शेष स्थलो में वह प्रायः धार्मिक और अलौकिक सकेतों से भरी है। वहाँ मानवीय प्रसंगों को भी अलौकिक धार्मिक भावनाओ के आरोप द्वारा अतिमानव बना दिया गया है।

अधिक सच कहना यह होगा कि तुलसीदास, कवि होने के नाते भी, चाहते तो यही थे कि राम की ऐहलौकिक लीलाओ अर्थात् मानव-जीवन का चित्रण करें, किन्तु चूँकि उनका विश्वास था कि इस जगत का जीवन एक अलौकिक जगत की सत्ताओं द्वारा प्रभावित एवं नियंत्रित होता है, इसलिए वे उस जीवन की वास्तविकता का सही अंकन न कर सके।

बात यह है कि जहाँ एक ओर साहित्यकार स्वयं जीवन-शक्ति के राग-विरागो का सन्देश-वाहक होता है, वहां दूसरी ओर वह अपने देश-काल और समाज की तरह-तरह की नैतिक-धार्मिक मान्यताओ से भी आक्रान्त रहता है। इसका एक फल यह होता है कि कलाकार अपनी कृतियो में युग-जीवन का परिचय दे देता है। मार्क्सवादी कहेंगे कि कलाकार मुख्यतः, बल्कि एक मात्र, यही काम करता है। वे यह भी कहेगे कि साहित्यकार मानवता के नहीं बल्कि एक विशेष वर्ग के राग-विराग-मूलक पक्षपातो को अभिव्यक्ति देता है। लेकिन हम इस मान्यता से पूर्णतया सहमत नहीं। जहाँ यह ठीक है कि कलाकार की सवेदना अपने वर्ग और अपने देश-काल के पक्षपातो से प्रभावित होती है, वहाँ इस मन्तव्य में भी काफी सचाई है कि काव्य-साहित्य का विषय मानव-मात्र के अन्तर्विकार है। यही कारण है कि अच्छे काव्य का साधारणीकरण होता है—वह सब प्रकार के, सब वर्गों एवं विभिन्न मान्यताओ वाले, पाठको के लिए ग्राह्य होता है।

दूसरे शब्दों में हम इस तथ्य को इस प्रकार प्रकट कर सकते है। कला-सृष्टि दो प्रकार की होती है, एक वह जिसमें कलाकार विशुद्ध मानवीय अन्तः-प्रकृति और उसकी संवेदना से नियत्रित रहता है, और दूसरी वह जिसमें वह जीवन की स्थितियो को अपने समाज और देश-काल के पक्षपातों के रगीन चश्मे से रँग कर देखता है। यदि यह मान लिया जाय कि ये पक्षपात वर्गगत स्वार्थों से सम्बद्ध होते हैं तो कहना होगा कि पूर्णतया मानवीय काव्य अर्थात् वह काव्य जो मनुष्य-मात्र को ग्राह्य हो सके—वर्गहीन समाज में ही लिखा जा सकेगा। उदाहरण के लिए जब तुलसीदास कहते है कि—

पूजिय विप्र शील गुण हीना।
शूद्र न विद्या-कला प्रवीना॥

तो स्पष्ट ही उनकी कल्पना के आगे वर्ग-विशेष के श्रोता रहते हैं जो शूद्रो से भिन्न है।

किन्तु पक्षपात केवल वर्गगत ही नहीं होते। विभिन्न देशो, धर्मों तथा समाजो की भिन्न-भिन्न नैतिक-धार्मिक मान्यतायें रहती है, जो कलाकार की

विशुद्ध मानवीय भावनाओं में हस्तक्षेप करती है। नीचे हम देखेंगे कि 'राम चरितमानस' में तुलसी की अतिधार्मिक भक्ति-भावना उक्तकृति के कलात्मक सौष्ठव में बाधक बन गई है। वस्तुतः धर्म अथवा राजनीति किसी से भी अधिक प्रभावित होने वाला कलाकार अपने विशिष्ट कर्तव्य अथवा कवि-कर्म के प्रति ईमानदार बना नहीं रह सकता।

'मानस' का प्रारम्भ देवताओ तथा गुरु की वन्दना से होता है। इसके पश्चात् राम-कथा और राम-नाम का महिमा-गान है जो विशुद्ध धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत है। सामान्यत. 'बालकाण्ड' में अलौकिक कथा-प्रसगो और घटनाओ की भरमार है।

कहा जा सकता है कि अलौकिक कथाओ को मानवी रूप देने की कोशिश उन्हे अस्वाभाविक बना देती है। किन्तु यह ठीक नहीं। शिव-पार्वती के विवाह की कथा में जहाँ-तहाँ विशुद्ध मानवी भावों का समावेश करके महाकवि कालिदास ने उसे सुन्दर काव्य का रूप दे दिया है; तुलसी में ऐसा कोई प्रयत्न नहीं दीखता। विवाह की यात्रा में कालिदास के शिव मनोज्ञ युवा का रूप धारण कर लेते है, जब कि तुलसी के शंकर प्रारम्भ से आखिर तक भयकर बने रहते है। यहाँ वे ग्राह्य हैं तो इसलिए कि उनके पास अलौकिक, अतिमानव शक्ति और ऐश्वर्य है। इसी प्रकार मदन-दहन प्रसंग में कालिदास ने शिव का उमा के सौन्दर्य से आकृष्ट होना दिखलाया है—

"उमामुखे बिम्बफलाधरौष्ठे, व्यापारयामास विलोचनानि।"

अर्थात् विम्बफल जैसे अधर वाले उमा के मुख पर शिव की दृष्टि पडी; 'मानस' में इसका कोई सकेत नहीं है।

सच बात यह है कि 'मानस' में सर्वत्र सात्विक आवेगों एव मनोभावो का ही निरूपण है; वहाँ आपको कोई ऐसा वर्णन नहीं मिलेगा जो आपके मन में विशुद्ध शृंगार की भावना जागृत करे। कवि के सौन्दर्य-वर्णन का मुख्य आलम्बन राम है, बीसियो स्यलो में राम के सौन्दर्य का वर्णन है, सैकडों जगह उसका सकेत। किन्तु कहीं भी यह वर्णन या सकेत शृगार-रस का उद्रेक नहीं करता। राम का सौन्दर्य मुख्यत· सन्तो और भक्तो के उपयोग का विषय है, माता-पिता तथा गुरुओ के निरीक्षण की वस्तु है। उसे सीता भी देखती है, और जनकपुर के स्त्री-पुरुष भी, किन्तु ऐसे स्यलो में प्राय राम के किशोरत्व पर गौरव दे दिया गया है, अथवा उनके अलौकिकत्व पर, फलत राम कहीं भी दृष्टि को वासना से उष्ण नहीं बनाते। यही बात कवि के सीता-सम्बन्धी वर्णनों पर लागू है। सीता कहीं भोली बालिका है तो कहीं ऐश्वर्यशालिनी

जगज्जननी; 'मानस' में कहीं भी वे युवती या तरुणी के रूप में चित्रित नहीं की गई।

गोस्वामी जी ने कहीं-कहीं जनकपुर और अयोध्या के नगरों में युवती नारियो का भी उल्लेख किया है; विशेषतः राम के विवाह-प्रसंग में; किन्तु सर्वत्र ही यह उल्लेख या वर्णन शृंगार के संकेतों से मुक्त है। यह नहीं कि इन प्रसंगों में गोस्वामी जी सौंदर्यवाची शब्दो या विशेषणों का प्रयोग नहीं करते; किन्तु ये शब्द कुछ ऐसे ठडे ढंग से नियोजित होते हैं कि वे पाठक में शृंगार की भावना का उद्रेक नहीं कर पाते। वास्तव में गोस्वामी जी नारी-सौंदर्य की नितान्त बाहरी सामान्य झलकें दिखा देते हैं; उसके विशिष्ट और हृदय को पकडने वाले विभ्रम-विलास का संकेत कभी नहीं देते। जनकपुर में स्त्रियां राम का परछन करने चल रही हैं—

सजि आरती अनेक विधि, मगल सकल सँवारि।
चलीं मुदित परिछनि करन, गजगामिनि बर नारि॥
बिधु बदनी सब सब मृगलोचनि, सब निज तन छबि रति मद मोचनि।
पहिरे बरन बरन बर चीरा, सकल बिभूषन सजे सरीरा।
ककन किंकिनि नूपुर बाजहि, करहिं गान कलकठहिं लाजहिं।

शब्दो के देखने से जान पडता है कि बाबा जी ने कोई कसर नहीं छोडी है; सब परम्परामुक्त विशेषण खर्च कर दिये हैं; किन्तु उनका प्रभाव प्राय. नहीं के बराबर होता है।

बात यह है कि स्वयं वर्णन करने वाले कवि के मन में ही किसी प्रकार का विकार नहीं होता जिसे वह पाठकों में सक्रान्त कर सके। सीता के सौन्दर्य-चित्रण भी प्रायः इसी प्रकार ठडे और निर्विकार हैं—

सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे।
छबि गन मध्य महाछबि जैसे॥

और—

सोहति बनिता बृन्द महँ, सहज सुहावनि सीय।
छवि ललना गन मध्य जनु, सुषमा तिय कमनीय॥

राम के विवाह के अवसर पर बहुत-सी देव-ललनायें नारी का रूप धारण करके आ गई हैं,

नारि वेष जे सुर वर वामा,
सकल सुभाय सुन्दरी स्यामा।
तिन्हइ देखि सुख पावहिं नारी,
बिन पहचानि प्राण ते प्यारी।

नारियों को देखकर नारियों का स्नेह और प्रसन्नता महसूस करना अस्वाभाविक नहीं—पर कैसे ढंग से बाबा जी दूसरी भावनाओ की सभावनाओं को बचा गये है ! जैसे वे श्यामा सुन्दरियाँ नारियो को ही दिखाई दीं, पुरुषों को नहीं। मिल्टन के महाकाव्य की भाँति 'रामचरित-मानस' से भी शृंगार-भावना का सप्रयास बहिष्कार किया गया है।

इस बहिष्कार की प्रवृत्ति से जहाँ 'मानस' में विशेष धार्मिक विशुद्धता और निर्मलता आ जाती है, वहाँ उसकी मानवीयता और सरसता कम भी हो जाती है। विवाह के अवसर पर वर-वधू में एक-दूसरे के प्रति स्वाभाविक उत्कंठा और परस्पर देखने की लालसा रहती है। राम और सीता भी उस अवसर पर पास-पास बैठे हुये एक-दूसरे को देखना चाहते है, अथवा देखने का प्रयत्न करते है, यह गोस्वामी जी को अविदित नहीं। किन्तु कैसे मिथ्या रहस्य-भरे शब्दो से वे उस अवसर की सरसता को उडा देते है—

> सिय राम अवलोकहिं परस्पर, प्रेम काहु न लखि परै।
> मन बुद्धि वर बानी अगोचर, प्रगट कवि कैसे करै॥

इसके वैषम्य में ऐसे ही मौके का कालिदास द्वारा खींचा हुआ चित्र देखिये—

> "तयोरपागप्रतिसरितानि, क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि।
> ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्य लोलानि विलोचनानि।"

कुमार अज और कुमारी इन्दुमती सन्निकट बैठे है। उनके नेत्र एक-दूसरे को देखने की लालसा से अपागों (बाहरी कोरो) की ओर प्रसृत होते और टकराकर निर्वतित हो जाते है; इस प्रकार वे लज्जा की मनोज्ञ यत्रणा (व्यथा) को प्राप्त हो रहे है—मनोरम लज्जाकष्ट से पीडित हो रहे है।

वस्तुत. 'मानस' में राम और सीता दोनो ही कहीं युवा प्रेमिक-प्रेमिका जैसा व्यवहार करते नहीं दीखते। स्वयं राम या तो किशोर बालक के रूप में दिखाई देते है या फिर गम्भीर कर्तव्य-परायण शान्त पुरुष के रूप में।

हमारा अनुमान है कि भावात्मक सात्विकता के निर्वाह के लिये भी मानवोचित प्रणय-भावना पर इतना कड़ा प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक नहीं था। माना जा सकता है कि कालिदास ने शिव-पार्वती के प्रणय-वर्णन में औचित्य का उल्लघन किया है; कालिदास ने राम और सीता के सम्बन्ध-चित्रण में भी कुछ अधिक स्वतन्त्रता ली है। किन्तु सात्त्विकता एव प्रणय-भावना में सामजस्य हो ही नहीं सकता—ऐसी बात नहीं है। महाकवि भवभूति की यह विशेषता है कि वे पूर्ण सात्विकता का वातावरण रखते हुये भी राम और सीता के प्रणय

की तीव्रता एवं गहराई दोनो ही को सफल अभिव्यक्ति दे सके हैं। लक्ष्मण की उपस्थिति में ही आत्म-चरित के उद्घाटक चित्रों को देखते हुये राम सीता को लक्ष्य कर कहते हैं;—

समय: स वर्त्तत इवैष यत्र मा
समनन्दयत् सुमुखि गौतमार्पितः
अयमागृहीतकमनीयककण
स्तव मूर्त्तिमानिव महोत्सवः कर. ।

अर्थात्, 'हे सुमुखि ! जान पडता है जैसे वह घड़ी अभी ही आकर उपस्थित हो गई है, जब पुरोहित गौतम के द्वारा अर्पित किये हुये, सुन्दर कंकण पहने, मूर्तिमान महोत्सव जैसे तुम्हारे कर कमल ने मुझे आनन्द-विभोर किया था।'

आगे विन्ध्य पर्वत तथा गोदावरी नदी के चित्र देखकर राम को याद आता है कि किस प्रकार वे सीता के साथ, कपोल से कपोल सटाये, बाँह में बाँह बाँधे, बिना क्रम की बातें करते हुए अनजाने ही सारी रात विता देते थे। चित्र-दर्शन से थकी हुई सीता से राम कहते हैं, 'मेरा सहारा लेकर चली चलो। श्रान्ति एव श्रम के कारण, जिस पर स्वेद-विन्दु झलक आये हैं, और जो इन्दु-किरणो के स्पर्श से द्रवित होने वाली चन्द्र-मणियो के हार के समान मनोरम है, जिसका स्पर्श जीवनदायी है, उस बाँह को मेरे कण्ठ में डाल दो।' कुछ आगे सीता के वचनो को लक्ष्य कर वे कहते हैं—

म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि
सतर्पणानि सकलेन्द्रिय मोहनानि
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि ।

अर्थात्, 'तुम्हारे वचन मुरझाये हुये जीवन-कुसुम को विकसित करने वाले और इन्द्रियो को मोहने वाले हैं; वे कानो के लिए अमृत हैं और हृदय के लिये रसायन।'

प्रेम के इस प्रकार के मार्मिक चित्रण के अभाव से 'रामचरित-मानस' के कलात्मक सौष्ठव को निश्चय ही क्षति पहुँची है। सीता जी का हरण होने से पहले राम ने कहा था—

सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुशीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला ।।
तुम्ह पावक महु करहु निवासा। जौ लगि करौं निसाचर नासा ।।

सीता जी ने राम की आज्ञानुसार अग्नि में प्रवेश किया और अपनी छाया को धरती पर छोड़ दिया। इस कथा के वाद कवि तथा पाठक दोनों का ही

हृदय राम के वियोग-कष्ट-वर्णन में नहीं रम सकता। वस्तुतः अरण्य-काण्ड का यह वर्णन एक रूढ़ि का निर्वाह करने के प्रयत्न जैसा जान पडता है।

गोस्वामी जी ने राम और सीता के मनोभावो के वर्णन में शृंगार-भावना का बहिष्कार किया है। इतना ही नहीं; वे जहाँ-तहाँ राम से सम्पर्कित होने वाले बालक और वयस्क, युवा और वृद्ध अधिकाश पात्रो की मनोवृत्ति पर स्वयं अपने भक्त और साधक के व्यक्तित्व की भावनाओ का आरोप करते पाए जाते हैं, जिसके फलस्वरूप उन पात्रो का आचरण अस्वाभाविक हो जाता है। स्वयंवर के अवसर पर जनक और उनकी पत्नी दोनो ने ही शिव-धनुष को अखण्डनीय समझते हुए गहरी चिन्ता महसूस की थी, किन्तु वाद में राम के चरणो को पखारते हुये, वे दोनो कुछ वैसे ही आवेगो का अनुभव करते हैं जैसा राम को भगवान समझने वाले कुछ सन्त भक्त करेंगे—

लागे पखारन पाय पकज प्रेम तन पुलकावली।

और

जे पद-सरोज मनोज-अरि-उर-सर सदैव बिराजही।

× × ×

मकरन्द जिन्ह को सम्भु सिर सुचिता अवधि सुर बरनई॥
करि मधुप मन मुनि जोगिजन जे सेइ अभिमत गात लहैं।
ते पद पखारत भाग्य भाजनु जनकु जय-जय सब कहै॥

यहाँ पर जनक ही नहीं दर्शको पर भी भक्तोचित भावनाओ का आरोप कर दिया गया है। धनुष के तोडे जाने से पहले भी बहुत से 'भले' राजा राम के प्रति ऐसी ही भावनाओ का अनुभव कर रहे थे। अयोध्या पहुँचने पर राजा दशरथ एक ओर तो रानियो से कहते हैं कि लडके थके हुये उनींदे हो रहे हैं, इन्हें ले जाकर शयन कराओ; और दूसरी ओर वे राम के चरणो को चित्त में रखकर विश्राम करने जाते हैं—

लरिका श्रमित उनींद बस, सयन करावहु जाइ।
अस कहि गे विश्राम-गृह, राम चरन चित लाइ॥

इसी प्रकार जब विदा करते समय जनक राम से कहते हैं कि 'आपकी प्रशंसा किस भाँति करूँ, आप तो मुनियो तथा शिवजी के मन-रूपी मानसरोवर के हंस हैं,' तो यह समझना कठिन हो जाता है कि उन्होने इस बीच में शिव तथा मुनियों के सम्बन्ध में यह रहस्यपूर्ण बातें कैसे जान लीं। ऐसा ही अस्वाभाविक सीता की माता का राम से यह कहना है कि, 'आप तो सबकी गति जानते हैं, सीता मुझे और सबको प्राणों से भी प्रिय है।'

विवाह के बाद जब सीता जी विदा होने लगती हैं तो स्वभावतः उनकी माता उन्हें सास-ससुर तथा पति की सेवा का उपदेश देती हैं। आश्चर्य की बात यह है कि सीता की सखियाँ भी उनसे किसी प्रकार का हँसी-मज़ाक न करके उन्हें नारी का धर्म सिखाने लगती हैं।

'मानस' में राम से सम्पर्कित होने वाले लोग कहाँ उन्हें मनुष्य समझते हैं, और कहाँ भगवान, यह कहना बड़ा कठिन हो जाता है। पंचवटी-प्रसग में लक्ष्मण सीता की आशका को दूर करने के लिये कहते हैं कि, 'जिनके भृकुटि-विलास मात्र से सृष्टि और लय होते हैं, उनके ऊपर क्या स्वप्न में भी सकट आ सकता है ?' चित्रकूट में निषाद और भरत की बातो से यह स्पष्ट है कि वे दोनों ही राम के ईश्वरत्व से अवगत हैं। शूर्पणखा की शिकायत और रुदन सुनकर रावण कहता है, 'खर और दूषण तो मेरे ही समान बलवान थे। उन्हें भगवान के सिवाय कौन मार सकता है ? यदि सचमुच भगवान ने अवतार लिया है तो मैं उनसे ज़रूर ही शत्रुता करूँगा, ताकि उनके बाणो से मृत्यु पाकर मैं भव-समुद्र से तर जाऊँ।'

राम के ईश्वरत्व तथा अनेक अलौकिक घटनाओ के बावजूद यदि 'रामचरित मानस' हमें स्पर्श करता है तो इसका कारण यह है कि उसमें जगह-जगह विशुद्ध मानवीय भावनाओ का भी समावेश होता गया है। विशेषत. राम के चरित्र में इस मानवीयता का पुट बड़ा सशक्त एवं हृदयस्पर्शी है—उनके अलौकिकत्व का प्रभाव प्राय दूसरो के व्यवहार में ही परिलक्षित होता है। तुलसी के राम सचमुच ही बड़े सरल एव सहृदय मानव हैं। अपने राज्याभिषेक की ख़बर सुनकर वे सोचते हैं—

जनमे एक सग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई ॥
करन बेध उपवीत बिआहा। सग-सग सब भये उछाहा ॥
बिमल बस यहु अनुचित एकू। बधु बिहाइ बडेहि अभिषेकू ॥

कैकेई के वन-निर्वासन के आग्रह को जानते हुये भी वे मन में तनिक भी कटुता नहीं लाते। इसके विपरीत वे ऐसा भाव बनाते हैं जैसे वन-गमन में उनके लिये कल्याण-ही-कल्याण है—

मुनिगन मिलन बिसेषि बन सबहिं भाति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि समत जननी तोर ॥

चित्रकूट में भरत से मिलने की उत्कठा में राम का वस्त्र कहीं जाता है, धनुष कहीं, और तरकस तथा तीर किसी तरफ। राम की उदारता का एक ही चित्र बड़ा मर्मस्पर्शी है—'जिस सम्पत्ति को रावण ने अपने दस शिर चढ़ाकर

शिवजी से पाया था, उस सम्पत्ति (लंका के राज्य) को रामचन्द्र ने सकुचते हुये विभीषण को दिया।' महानुभावता का इससे अधिक सफल चित्रण कहीं मिलना कठिन है।

वस्तुतः राम के रूप में तुलसीदास ने एक ऐसे नर-रत्न की कल्पना की है जिसमें हिन्दू संस्कृति के समस्त अच्छे गुण विद्यमान हैं। प्रायः समझा जाता है कि विभिन्न देशो अथवा जातियो की नैतिक मान्यतायें अलग-अलग होती हैं। इन मान्यताओ का भिन्न जीवन-दृष्टियो अर्थात् धार्मिक, दार्शनिक सिद्धान्तो से सम्बन्ध होता है, किन्तु हमारा अनुमान है कि राम के चरित्र की श्रेष्ठता एकदेशीय नहीं, सार्वभौम है। भले ही दूसरे देशो के लोग हिन्दूधर्म के सिद्धान्तो को न मानें, किन्तु हमारा दृढ़ विश्वास है कि उनमें से कोई भी राम की सज्जनता एवं सहृदयता से प्रभावित हुये विना नहीं रहेगा। इससे सिद्ध होता है कि चारित्रिक साधुता अथवा श्लाघ्य मानवता का आदर्श सभी देशों तथा जातियो के लिये समान ही है। जो कोई भी जाति अपने काव्य-साहित्य द्वारा ऐसे आदर्शों से अनुप्राणित होती रहती है—अनियन्त्रित भोग-भावना के बदले जो त्याग एवं सहृदयता का पाठ सीखती है—उसका स्थायी पतन नहीं हो सकता। हमारा अनुमान है कि तुलसीदास ने अपनी इन उदात्त प्रेरणाओ द्वारा पतनोन्मुख हिन्दू जाति को अवश्य ही बल दिया होगा।

मानवीय सहृदयता के सबल चित्र देने में तुलसीदास अद्वितीय हैं। प्रयाग में राम-सीता का कुश का विछौना देखकर भरत की आंखो से आंसू बहने लगते हैं। जो सीता जनक की पुत्री और दशरथ की पुत्र-वधू हैं, जिनके पति रघुनायक राम हैं, उनके कुशो के बने हुये विछौने पर सोने की कल्पना कितनी करुण है!

पति देवता सुतीय मनि सीय साथरी देखि।
विहरत हृदउ न हहरि हर पवि तें कठिन विशेषि॥

सचमुच ही ऐसे दृश्य को देखकर भरत का ही नहीं किसी भी सहृदय का हृदय फट जाने की कामना करेगा। राम के लिये भी भरत इसी प्रकार दुःखी होते हैं। जिन राम की कोमल मूर्ति और सुकुमार स्वभाव है; जिनके शरीर को कभी गर्म हवा भी नहीं लगी; जिन्होने अपने जन्म से जगत को प्रकाशमय किया है; जो रूप, शील और गुणो की खान हैं; वैरी भी जिनकी वडाई करते हैं; वोलते और मिलते समय जो विनय से मन हर लेते हैं; जिन्होंने कभी किसी का दुःख कानो से भी नहीं सुना; जिनकी दशरथ जीवन-वृक्ष की भाँति चिन्ता करते थे; जो अपनी माताओ को वैसे ही प्यारे थे, जैसे सर्प को मणि;

वे राम कुशो के बिछौने पर सोते है और कन्द-मूल फल खाकर निर्वाह करते हैं—विधाता की गति सचमुच ही बडी बलवान है। राम-सीता के संकटो के ये चित्र मानव मात्र को धैर्य एवं सहिष्णुता का पाठ सिखाते है।

कवि ने राम को एक ऐसे महापुरुष के रूप में चित्रित किया है जो स्वयं कभी विचलित न होते हुये दूसरो को अभय एवं आनन्द देने के लिये ही जीवित रहता है—

बलकल बसन जटिल तनु स्यामा। जनु मुनिबेष कीन्ह रति कामा॥
कर कमलनि धनु सायकु फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥

मानस में जहाँ-जहाँ इस प्रकार के चित्र है, वहाँ वह काव्य के ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित है। यो मानवीय चित्रण की दृष्टि से बाल और अयोध्या काण्ड सहज ही सर्वश्रेष्ठ है। इस दृष्टि से तुलसी की दूसरी कृतियाँ—कवितावली, गीतावली, जानकी मगल आदि—विशेष महत्त्व रखती है। किन्तु स्वयं 'मानस' में अयोध्या काण्ड के बाद का अधिकाश भाग विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। 'मानस' का यह भाग श्रद्धालु एव विश्वासी पाठकों का जितना मनोरजन कर सकता है, उतना विशुद्ध काव्य-प्रेमियो का नहीं। तुलसीदास अपने उक्त महाकाव्य में लगातार मानवोचित चित्र देते हुए नहीं चलते। इस दृष्टि से "सूरसागर" तुलसी के मानस से अधिक ऊँची कोटि का काव्य कहा जा सकता है। सूरदास के ग्रन्थ में जीवन के बारीक एव मार्मिक चित्रों की जैसी ठोस प्रचुरता है, वैसी हिन्दी कविता में अन्यत्र सुलभ नहीं है। इस दृष्टि से हम सूरदास को तुलसी से महत्तर कवि कह सकते है।

अतिरिक्त टिप्पणी

उक्त निबन्ध में हमने इस बात पर गौरव किया है कि गोस्वामी जी की वैराग्यनिष्ठ भक्ति-भावना उनके काव्य की सरसता और जीवनानुकारिता में बाधक हुई है। किन्तु इसके साथ हमें यह जोड़ना चाहिए कि स्वयं धर्म और भक्ति की भावना भी मानव-जीवन का अग है, उससे बहिर्भूत नहीं। अत. एक धार्मिक कवि के रूप में तुलसीदास का ऊँचा स्थान है। एक उदात्त अपरिमेय उपास्य की कल्पना का भी मानव-जीवन और इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। राम के प्रति गोस्वामी जी जिस प्रगाढ भक्ति-मूलक आवेग का अनुभव करते है वह अकृत्रिम तो है ही, काव्य-निबद्ध रूप में सक्रामक भी है।

धर्म-भावना से भी अधिक सक्रामक है "मानस' की उदात्त नैतिक दृष्टि। और यहां यह प्रश्न खडा हो जाता है कि कहां तक और किस प्रक्रिया से अतीत कलाकारों की जीवन-दृष्टि आज हमें ग्राह्य होती अथवा प्रभावित करती है।

क्यों और किस हद तक आज हमारे देशवासी राम और भरत, लक्ष्मण और सीता के जीवनादर्शों से आकृष्ट और अनुप्राणित हो सकते है ?

अवश्य ही जीवन में संभोग का, वासनाओ के सहज-स्वाभाविक उपभोग का, स्थान है, एकान्त निरोध और आत्म-दमन, जीवन के सहज प्रवाह के विरोधी होने के कारण, अस्वास्थ्यकर एव हेय है। इस तथ्य की अकुण्ठित स्वीकृति हमें सस्कृत काव्य में मिलती है। किन्तु साथ ही यह भी जरूरी है कि हमारा व्यक्तित्व वासनाओ के तनाव से मुक्त होकर शान्त भाव से उच्चतर ध्येयो का अनुचिन्तन करे। यह तभी सम्भव होता है जब हमारी रागात्मिका वृत्ति निरुद्ध न होकर उदात्त कार्यों अथवा चरित्रों पर संसक्त हो जाय। धार्मिक काव्य सामान्यत और 'मानस' विशेषतया हमारी वृत्तियो का इसी प्रकार उन्नयन और परिशोधन करता है।

कहा जा सकता है कि अब रामायण की नैतिक शिक्षायें व्यर्थ हो गई, क्योकि आज उन्हें बल देने वाली धार्मिक तथा दार्शनिक मान्यतायें छिन्न-भिन्न हो चुकी है। हमारा उत्तर है—नहीं। नैतिकता और चरित्र के वे आदर्श जो काव्य में प्रतिष्ठित होते है केवल युग-विशेष की मान्यताओ के कारण ही ग्राह्य नहीं होते; उनके आकर्षण की जड़ें ज्यादा गहरी पहुँची रहती है। दार्शनिक-धार्मिक मान्यतायें उन आदर्शो के बौद्धिक मण्डन के प्रयत्न-रूप रहती है, वे सर्वैव उनकी ग्राह्यता या सौंदर्य का कारण नहीं होतीं। वस्तुत नैतिकता और चरित्र के आदर्शों का सम्बन्ध मानवता की जिन मांगो से है वे धार्मिक-दार्शनिक विश्वासो की अपेक्षा अधिक मौलिक और गूढ़ होती है। अतः उक्त विश्वासो या मान्यताओ के बदल जाने पर भी उन आदर्शो का आकर्षण एवं महत्त्व बना रहता है। उदाहरण के लिये सीता की राम के साथ वन जाने की तत्परता और राम तथा भरत की राज्य-विषयक नि.स्पृहता ऐसे आदर्श है जिनका आकर्षण आज के जड़वादी युग में भी कम नहीं हुआ है। वास्तविकता यह है कि दूसरो के लिए त्याग और कष्ट-सहन की तत्परता एक ऐसी वृत्ति है जो मनुष्य की नैतिक प्रकृति को अनिवार्य रूप से खींचती है। प्रत्येक युग और जीवन-दर्शन को इस वृत्ति की वाञ्छनीयता का अपना निराला हेतु बताना पड़ता है—किन्तु जीवन-दर्शन के बदलने का अर्थ उस वृत्ति की वाञ्छनीयता में कमी या परिवर्तन नहीं है। इसलिये पुराने युगों और कवियो द्वारा खींचे हुए त्यागी वीरों के चित्र आज भी हमें आकृष्ट करते और हमारा नैतिक परिष्कार करते है। अतएव तुलसी द्वारा उपस्थित राम, सीता, भरत आदि के चित्र युग-युग तक हमारे देशवासियों की मनोवृत्ति को संस्कृत एवं उदात्त बनाते रहेगे।

अवश्य ही आचरण के कुछ आदर्शों में स्थायी परिवर्तन भी होता है। यवनों से आक्रान्त हिन्दुओं को तुलसी ने यह शिक्षा दी कि वे भगवान की शरण में पहुँचकर, भगवद्भक्ति द्वारा, शान्ति और शक्ति प्राप्त करें। आज शायद यह शिक्षा ग्राह्य और उपयोगी नहीं रह गई है—आज सम्भवतः ईश्वर में विश्वास भी शिथिल होने लगा है। क्षुद्र स्वार्थपरता से बचने के लिये आज हमें ईश्वर-विश्वास से भिन्न किसी दूसरी प्रेरणा की अपेक्षा होगी। इस प्रकार की प्रेरणा देने का काम आज के नये युग के साहित्यकारो का होगा। इन नये साहित्यकारो का जीवन-दर्शन भी भिन्न होगा। किन्तु जब ये साहित्यिक नये युग के उपयुक्त नवीन नैतिकता (अर्थात् आत्म-सुख की अवहेलना और दूसरों के लिये कष्ट-सहन की भावना) के प्रेरक चित्र खींचेंगे, तो वे अनिवार्य रूप से देश की 'मानस' जैसी सास्कृति की विभूतियो से प्रभावित और अनुप्राणित होंगे।

९

तुलसी और भारतीय संस्कृति

[प्रत्येक वर्ष तुलसी जयन्ती के अवसर पर लेखक को तुलसी के बारे में कुछ सोचने और कहने का अवसर मिलता है। इस निबन्ध में कुछ विचारों का संग्रह है। जिन्होंने लेखक के कुछ भाषण सुन हैं, उन्हे यहाँ विशेष नवीनता की आशा नहीं करनी चाहिये।]

भारतीय संस्कृति तथा हिन्दू सस्कृति समानार्थक न होते हुए भी बहुत-कुछ अभिन्न हैं। हिन्दू संस्कृति के अतिरिक्त हमारे देश में महत्वपूर्ण बौद्ध सस्कृति का भी जन्म एव विकास हुआ। किन्तु कालान्तर में बौद्ध सस्कृति इस देश से लुप्त-प्राय हो गई; अपनी जन्म-भूमि से निर्वासित होकर उसने विदेशो में विजय-पताका फहराई। किन्तु वास्तव में बौद्ध सस्कृति भारतवर्ष से निर्वासित नहीं हुई; उसके महत्वपूर्ण अंश स्वय हिन्दू संस्कृति का अंग वन गये। हिन्दुओ ने बौद्धो के अहिंसावाद को पूर्णतया अपना लिया, यहाँ तक कि बुद्ध जी की गणना दस अवतारों में भी कर डाली।

बौद्ध संस्कृति के अतिरिक्त अन्य स्रोतो तथा शक्तियो से भी हिन्दू सस्कृति को समृद्धि एवं विस्तार प्राप्त हुआ है। हिन्दुओ की पौराणिक एव वर्ण-व्यवस्था-मूलक संस्कृति आर्यों की मूल वैदिक संस्कृति से प्रभावित होते हुए भी उससे भिन्न है। बौद्ध धर्म एवं बौद्ध विचारको के अतिरिक्त उक्त हिन्दू-संस्कृति पर हिन्दी आदि भाषाओं के समूचे इतिहास में बिखरे हुए सन्तों के उपदेशों एवं काव्य का भी निश्चित प्रभाव पड़ा है। हिन्दी तथा अन्य भाषाओ के अधिकाश सन्त कवि जात-पाँत अथवा वर्ण-व्यवस्था के विरोधी एव सीधी, सरल उपासना-पद्धति के पक्षपाती रहे हैं।

तुलसीदास भी एक सन्त कवि हैं। किन्तु वे ब्राह्मण-धर्म के मर्यादावादी सन्त हैं। वे वर्ण-व्यवस्था के अन्यतम पोषक एवं सरक्षक हैं, यद्यपि, भक्ति-मार्गी होने के नाते, वे जात-पाँत को उतना अधिक महत्व नहीं देते। वस्तुतः तुलसी

के व्यक्तित्व और काव्य में पौराणिक धर्म-भावना की प्रधानता होते हुए भी सन्तों की उदारता एवं विशाल-हृदयता पाई जाती है। साथ ही उन पर संस्कृत काव्य की परम्परा एव उसमें प्रतिफलित संस्कृति का भी प्रभाव है।

२

सांस्कृतिक दृष्टि से हमारा देश काव्य-प्रधान देश कहा जा सकता है। इस देश में संख्या एवं गुण दोनो के हिसाब से बहुत अधिक कवि हुए हैं। कालिदास ने अपने एक नाटक की प्रस्तावना में तीन पुराने नाटककारो—भास, सौमिल्ल तथा कविपुत्र—का उल्लेख किया है जिनमें से केवल एक की रचनायें उपलब्ध हैं। कालिदास से पहले हमारे देश में वाल्मीकि, व्यास, एवं अश्वघोष जैसे श्रेष्ठ कवि हो चुके थे। कालिदास के बाद सस्कृत में अनेक विख्यात कवि तथा नाटककार गद्य तथा पद्य दोनो में साहित्य-रचना करते पाये जाते हैं। संस्कृत-काव्य के बाद यदि हम हिन्दी-साहित्य पर दृष्टि डालें तो भी वैसी ही स्थिति मिलती है। भारतीय भाषाओ में सम्भवतः हिन्दी का काव्य-साहित्य सबसे अधिक समृद्ध है। चन्दबरदाई, कबीर, जायसी, दादूदयाल, सुन्दरदास, सूर, तुलसी, घनानन्द, बिहारी, देव आदि दर्जनो कवियो ने हिन्दी-काव्य को विस्तृत एव सम्पन्न बनाया। दिल्ली एव लखनऊ के बीच सौदा, मीर, ग़ालिब आदि उर्दू के भी दर्जनो सिद्ध कवि उत्पन्न हुए हैं।

किन्तु हम इन सभी कवियो की जयतियाँ नहीं मनाते। जयतियाँ मुख्यतः हम उन कवियों की मनाते हैं जिन्होने हमारे देश की संस्कृति को अभिव्यक्ति एव रूप दिया है। ऐसे कवियो में हम तीन के नाम विशेष रूप में ले सकते हैं; ये तीन कवि कालिदास, तुलसीदास एव आधुनिक काल में रवीन्द्रनाथ हैं। इन कवियो के कृतित्व का विशेष अध्ययन करके हम भारतीय, विशेषतः हिन्दू-संस्कृति के, बदलते एवं विकासमान रूप को स्पष्ट रूप में देख और समझ सकते हैं। कालिदास से रवीन्द्र के समय तक हिन्दू-सस्कृति में जो विराट परिवर्तन हुआ है, उसे समझने के लिये हमें उन तुलसी के काव्य पर दृष्टि डालनी होगी जो एक साथ ही भक्त, सन्त तथा वर्णाश्रम धर्म के अन्यतम प्रवक्ता थे। इन कवियो के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा हम यह भी जान सकते हैं कि कालिदास से तुलसी तक एवं तुलसी से रवीन्द्र तक भारतीय संस्कृति किस प्रकार उन्नति तथा अवनति की विभिन्न दिशाओ में अग्रसर होती रही है। इस अध्ययन से सम्भवत. हमें यह सोचने में भी मदद मिलेगी कि हमारे स्वतन्त्र देश का सांस्कृतिक विकास अब किन दिशाओ में हो सकता है।

३

मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी है। अपनी जीवन-यात्रा में वह अपने अतीत को ढोते हुए चलता है। सच पूछिये तो अतीत से व्यतिरिक्त मानव-जीवन के वर्तमान का कोई अस्तित्व ही नहीं है। जिसे हम व्यक्तित्व कहते हैं, वह बहुत-कुछ अतीत में सम्पादित किये हुए कृत्यों एवं एकत्रित किये हुए संवेदनो तथा ज्ञान का पुञ्ज-मात्र है; हम ने अब तक जिन वासनाओ एवं संकल्पो का अनुभव और पूर्ति की है वे ही हमारे व्यक्तित्व का प्रधान अग है। हम किसी ऐसे व्यक्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें विगत जीवन के विविध अनुभवो की स्मृति नष्ट हो चुकी है। किसी जाति के जीवन में अतीत की सांस्कृतिक धरोहर का वही स्थान है जो व्यक्ति के जीवन में उसकी सैकडों स्मृतियों का होता है। भेद यही है कि जहाँ व्यक्ति की स्मृतियाँ उसके जीवन के साथ समाप्त हो जाती है, वहाँ जातीय स्मृति अर्थात् सांस्कृतिक धरोहर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में सक्रान्त होती हुई बहुत-कुछ अमर बनी रहती है।

अतः समृद्ध सास्कृतिक जीवन के लिए प्रत्येक जाति एव व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अतीत की संस्कृति को आत्मसात् करते हुए आगे बढ़े। ज्ञान अथवा संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में, इसीलिए, "क्लासिक्स" का गहरा अध्ययन आवश्यकीय है। बात यह है कि सास्कृतिक धरोहर हमें वशानुक्रम से, वर्ण एवं आकृति तथा बुद्धि की भाँति, शारीरिक तत्त्वो में प्राप्त नहीं होती; उस धरोहर को हम शिक्षा अथवा बौद्धिक प्रयत्न द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि हम वाल्मीकि, कालिदास, सूर-तुलसी आदि महाकवियो का मनोयोग से अध्ययन करें। वैसे अध्ययन के बिना हम न अपनी काव्य-संवेदना का ही ठीक से विकास कर सकते है, न जीवन के विभिन्न पक्षों एवं रूपों की समृद्ध चेतना ही प्राप्त कर सकते हैं। निष्कर्ष यह कि अतीत की सांस्कृतिक लब्धियाँ, विशेषत वे ऊँची लब्धियाँ जिन्हे देश के संस्कृत मस्तिष्क ने सदियो से प्रयत्न-पूर्वक सुरक्षित रखा है, आज के सभ्यताभिलाषी मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति है। अपने को पूर्ण रूप से संस्कृत एवं सभ्य बनाने के लिए हमें अपने देश की नहीं अपितु विश्व के सभी उन्नत राष्ट्रो की सास्कृतिक विरासत को आत्मसात् करके अग्रसर होना पड़ेगा।

हमने कहा कि अतीत का सास्कृतिक वैभव हमारी सबसे महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति एवं शक्ति है। यदि यह वैभव किसी कारण से नष्ट हो जाय तो मनुष्य को अपनी सांस्कृतिक यात्रा फिर से शुरू करनी पडेगी—क्योंकि उस दशा में वह अपने उन आदिम पूर्वजों से, जो अर्धनग्न अवस्था में घूमते हुए अपने भौंडे हथि-

यारों से शिकार करके निर्वाह करते थे, विशेष भिन्न नहीं रहेगा। किन्तु हमें उक्त सचाई के साथ ही एक दूसरे सत्य पर भी गौरव देना है। अतीत संस्कृतियाँ हमारी सम्पत्ति एव शक्ति ही नहीं, हमारी विपत्ति एवं अशक्ति भी बन सकती है। अतीत की ज्ञान-राशि, रूढियाँ एवं प्रथायें जहाँ एक ओर हमारे जीवन को पशुत्व की भूमिका से निकाल कर सस्कृत मनुष्यता के धरातल पर प्रतिष्ठित करती है, वहाँ वे हमारे जीवन को अवांछनीय परपरा से बांध कर हमारी उन्नति में बाधा भी डालती है। वह जाति अभागी हो सकती है, होती है, जिसे प्राचीन सस्कृति की धरोहर प्राप्त नहीं है; किन्तु वह जाति भी कम अभागी नहीं होती जिसके अतीत सस्कार उसे बेतरह जकडकर अपने जीवन को वर्तमान के अनुकूल बनाने में बाधक होते है। इतिहास में ऐसा सैकडो बार हुआ है जब प्राचीन विचारको एव सिद्धान्तो के नाम पर समकालीन नये चिन्तको को अपना सुपरीक्षित मतव्य प्रकट करने से रोका गया है। पश्चिम में प्लेटो तथा अरस्तू के नाम पर तथा स्वदेश में वेदो तथा स्मृतियो की दुहाई देकर अक्सर नये विचारक को निरुत्साहित ही नहीं, दण्डित किया गया है। इसे एक आश्चर्य ही समझना चाहिये कि हमारे देश में वृहस्पति एवं चार्वाक जैसे नास्तिक विचारको को अपनी बात कहने दी गई, यद्यपि उनके ग्रथ आज उपलब्ध नहीं है। यह भी हमारा सौभाग्य है कि हमारे देश में वेदो तथा उपनिषदो का प्रामाण्य न मानने वाले बौद्ध तथा जैन विचारक हुए। यह ध्यान देने की बात है कि हिन्दू दर्शन ने प्राय तभी तक विशेष उन्नति की जब तक देश में उसका विरोध करने वाले बौद्ध दार्शनिक मौजूद थे। बौद्ध धर्म के लोप के साथ-साथ ही हिन्दू दर्शन का स्वर्ण-युग भी समाप्त हो गया। इसके विपरीत हम पाते है कि योरप में परपरा का विरोध करने वालों को तरह-तरह की शारीरिक यातनायें दी गईं। आधुनिक योरप में स्वतन्त्र चिन्तन का प्रारम्भ प्राय पुनर्जागृति के समय से होता है। पिछली तीन-चार शताब्दियो में योरप ने जो तेजी से सांस्कृतिक प्रगति की है, उसका एक प्रमुख हेतु उसकी बौद्धिक स्वतन्त्रता भी रही है।

तात्पर्य यह कि अतीत के बडे-से-बडे विचारको एव कलाकारो के हाथ हमें अपनी सारी मानसिक स्वतत्रता नहीं बेच देनी चाहिये, और न हमें उनकी मान्यताओ को आंख मूंद कर ग्रहण ही कर लेना चाहिये। अनिवार्य रूप से मूल्यांकन के सारे पैमाने हम अतीत "क्लासिक्स" का अध्ययन करके प्राप्त करते है, किन्तु आवश्यक रूप में उन पैमानो का प्रयोग हमें इस प्रकार करना चाहिये कि हम अतीत के महान् शिक्षको से वही प्रेरणायें लें जो हमारे जीवन-

विकास को आगे बढ़ाने वाली है। इस प्रकार के मूल्यांकन की संभावना इस परिस्थिति में निहित है कि केवल अपने देश के तथा विभिन्न देशो के अतीत में अनेक श्रेष्ठ कलाकार, शिक्षक एवं विचारक हुये हैं, जिन्होने अक्सर एक-दूसरे के विरोधी सिद्धान्त तथा आदर्श उपस्थित किये हैं। महापुरुषो एवं इतिहास के विभिन्न युगो का तुलनात्मक अध्ययन करके ही हम उनका समुचित मूल्यांकन करते हुये उनसे जीवनदायिनी प्रेरणायें ले सकते हैं। इसी दृष्टिकोण को सामने रखते हुये हम कालिदास और तुलसी तथा, कुछ हद तक, रवीन्द्र के सांस्कृतिक आदर्शों पर तुलनात्मक दृष्टि डालेंगे।

४

महाकाव्यकार होने के नाते कालिदास तथा तुलसी दोनों ने आदर्श अथवा वाछनीय जीवन के पूर्ण चित्र उपस्थित किये है। कालिदास के युग से तुलसी के समय तक भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि में कितना वृहत् परिवर्तन हुआ इसका स्पष्ट एवं विस्तृत निदर्शन ""रघुवंश" एवं "रामचरित मानस" में प्रतिफलित जीवन-दर्शन है। एक प्रकार से ये दोनो ही कवि आदर्शवादी हैं, दोनों ने आदर्श नायकों तथा पात्रों का चरित्र-गान किया है। किन्तु बडे-से-वडा आदर्शवादी कलाकार बरवस अपने युग के यथार्थ को अभिव्यक्ति देता है—बड़ी-से-वडी आदर्श'दृष्टि अन्ततः यथार्थ से आकलित तत्त्वो के मेल से ग्रथित या निर्मित होती है। इसीलिये हम कालिदास तथा तुलसी के काव्यों में सम-सामयिक आदर्शों तथा वास्तविकताओं दोनों का ही परिचय पा सकते हैं।

इक्ष्वाकु अथवा रघु के वंश में उत्पन्न नर-वीरो का वर्णन कालिदास ने कुछ इस प्रकार किया है। 'जन्म से मरण तक वे शुद्ध जीवन व्यतीत करते थे; जब तक फल प्राप्ति न हो तब तक कर्म में जुटे रहते थे, विधि-पूर्वक यज्ञादि कर्म करते थे; याचको की प्रार्थनाओं को पूरा करते थे, अपराध के अनुपात से दण्ड देते थे; समय पर जागते थे; त्याग के लिये सम्पत्ति इकट्ठी करते थे; सत्य के लिये मितभाषी थे। वे यश के लिये विजय चाहते थे और संतान के लिये विवाह करते थे; बालकपन में विद्याभ्यास करते थे, यौवन-काल में विषयो की इच्छा करते थे; वृद्धावस्था में मुनियो की तरह रहते थे, और अन्त में योग-द्वारा शरीर-त्याग करते थे।' राजा दिलीप, 'निर्भय होकर अपनी रक्षा करता था, रोग-हीन रहकर धर्मानुष्ठान करता था, विना लोभ के अर्थ-सचय और विना आसक्ति के सुखो का अनुभव ज्ञान रहते हुये भी वह मौन रहता था शक्ति रहते हुए भी क्षमाशील था; त्यागी (दानी) होते हुये भी वह आत्मश्लाघी नहीं था। उसे विषय आकृष्टनहीं करते थे, वह पारदर्शी विद्वान था और उसकी

धर्म में अभिरुचि थी—इसलिये, बुढापे के बिना ही वह वयोवृद्ध था। समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी पर वह ऐसी सरलता से शासन करता था, जैसे समस्त भूमण्डल एक नगरी मात्र हो जब वह वशिष्ठ के आश्रम को जा रहा था तो उसके साथ बहुत से आदमी नहीं थे, फिर भी उसके तेज के कारण लगता था जैसे वह सेना से घिरा हुआ हो .वास्तव में सेना तो उसकी शोभा के लिये थी; उसके प्रयोजनपूर्ति के साधन तो दो ही थे, शास्त्रो में अकुण्ठित गति रखने वाली बुद्धि और धनुष पर चढी हुई डोरी।' 'गजगामी रघु ने पिता के सिंहासन तथा शत्रुओं के मण्डल को एक साथ ही आक्रान्त कर लिया। यद्यपि पृथ्वी मनु आदि बहुत से राजाओ द्वारा उपभुक्त हो चुकी थी, फिर भी लगता था जैसे वह रघु के लिये एकदम नवीन बन गई है। रघु न अधिक कठोर था, न अत्य-धिक कोमल; वह दक्षिण के उस वायु के समान था, जिसमें न ज्यादा ठंडक रहती है, न अधिक गर्मी।' रघु दिग्विजय करता हुआ उत्तर दिशा में पहुँचा; 'वहाँ उसने हूणो के बीच इतना पराक्रम किया कि उनकी स्त्रियां अपने शरीर का ताडन तथा विलाप करती हुई कपोल आदि अंगो रक्ताभ हो।'...

इंदुमती के स्वयवर में एकत्रित राजाओं की विलास-चेष्टाओं का कालिदास ने रस के साथ विशद वर्णन किया है। राजा लोग विलासी है, साथ ही वे एक विशेष प्रकार की श्री एवं ऐश्वर्य-जन्य कान्ति के अधिष्ठाता भी है।

तासु श्रिया राजपरम्परासु प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्य
सहस्रधात्मा व्यरुचदविभक्तः पयोमुचां पंक्तिषु विद्युतेव।

राजाओ की उस कतार में सौंदर्य-श्री ने अपने देदीप्यमान, अतएव कठि-नता से देखे जाने योग्य, रूप को मानो सहस्रश. विभक्त करके स्थापित कर दिया था, उसी तरह जैसे विद्युत अपने को मेघो की पक्ति में विभक्त कर देती है।

दशरथ को जब शिकार खेलने की इच्छा हुई, तो मन्त्रियो ने उनसे मृगया के गुणो का वर्णन इस प्रकार किया—'मृगया के द्वारा भागते हुए लक्ष्य के बेधने का अभ्यास होता है; जन्तुओ की भय-रोषादि मुद्राओ का परिज्ञान होता है; तथा व्यायाम के कारण शरीर में फुर्ती आती है।'

ऊपर हमने कालिदास द्वारा किये हुये रघुवशी वीरों के विभिन्न वर्णनों का सकेत देने का प्रयत्न किया है। इन वर्णनों में, पाठक देखेंगे, राजाओं के जीवन के प्राय सभी अगो का समावेश है। कालिदास के आदर्श राजा सफल एवं कर्मठ शासक है; जीवन के प्रति उनमें, स्वस्थ उपभोग का दृष्टिकोण है। वे

आत्म-निर्भर, तेजस्वी पुरुष-पुंगव हैं, और उन सब गुणों से विभूषित हैं जो उनके विजयोल्लसित, प्रभावशाली जीवन एवं व्यक्तित्व के लिए अपेक्षित हैं।

सन्त तुलसीदास ने मानव-जीवन के आदर्श को दो प्रकार के पात्रों में चित्रित किया है, एक स्वयं राम के व्यक्तित्व में और दूसरे राम-भक्तों के। वस्तुतः 'रामचरित मानस' के अधिकांश पात्र राम-भक्त हैं, और उनके चरित्र के मूल्यांकन का कवि के पास मुख्य पैमाना उनकी राम-भक्ति है। इसी पैमाने के अनुसार वे व्यक्ति जो राम-भक्त नहीं हैं अधम या अवांछनीय हैं। 'रामचरित मानस' की इस बात के लिए प्रशसा की जाती है कि उसमें पिता-पुत्र, भाई-भाई आदि के पारस्परिक सम्बन्धों का उज्ज्वल रूप सामने रखा गया है, किन्तु ज्यादा सच बात यह है कि इन सम्बन्धो के बीच भी कवि ने मुख्यतः राम-भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। माता होने के नाते भरत को राज्य दिलाने का प्रयत्न करके कैकेयी ने कोई बड़ा अपराध नहीं किया—सम्भवतः अनुरक्त दशरथ उसे वैसा वचन भी दे चुके थे—किन्तु 'मानस' में कहीं इस तथ्य को लेकर कैकेयी की सराहना नहीं की गई है, और न भरत को माता की अवज्ञा करने के लिए कहीं दोषी ही ठहराया गया है। कारण स्पष्ट है—तुलसी की दृष्टि में सबसे बड़ा गुण राम-भक्ति है और सबसे बड़ा अवगुण राम-दोष—

जाके प्रिय न राम बैदेही
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।

'मानस' में भरत की महिमा मुख्यतः इसलिये है कि वे राम के सबसे बड़े अनन्य भक्त हैं। राम-भक्ति के अतिरिक्त भरत का दूसरा मुख्य गुण यह है कि वे लौकिक भोगैश्वर्य के प्रति एकदम उदासीन हैं।

भरतहिं होइ न राजमद विधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काजी सीकरनि छीर सिंधु बिलगाइ॥

भरत स्थितप्रज्ञ हैं संसार के हानि-लाभों से पूर्णतया विरक्त। राम भी प्राय. वैसे ही हैं, अभिषेक की सूचना से वे प्रसन्न नहीं होते और वनवास की आज्ञा से मलिन या खिन्न नहीं होते। यश की कामना से विजय-अभियान करने वाले कालिदास के रघुवंशियो से वे कितने भिन्न हैं! संत तुलसीदास ने सूर्यवंशी राम और भरत को भी तपस्वी, साधु-ब्राह्मणो जैसा बना डाला है! कालिदास ने अपने नायकों की दर्जनो विशेषताओ का सूक्ष्म अकन किया है, तुलसीदास ने राम के केवल उन गुणों का विशेष उल्लेख किया है जो उनकी भलमनसाहत प्रमाणित करते हैं। राम की अनुपस्थिति में भरत ने अनेक वर्षों तक अयोध्या का राज्य संभाला, किन्तु भरत में एक सफल शासक के कितने

गुण थे इसका कोई उल्लेख 'रामचरितमानस' में नहीं है। कालिदास ने दिलीप के सम्बन्ध में लिखा है,

> व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्राशुर्महाभुजः
> आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः।
> भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्।
> अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः।

'चौड़े वक्ष.स्थल एवं पुष्ट कन्धों वाला, शाल-वृक्ष की भाँति लम्बा, मूर्त्तिमान क्षात्र-धर्म की भाँति वह राजा अपने कर्म के योग्य शरीर को अधिष्ठित किये हुए था। उसमें भयानक तथा मनोज्ञ दोनों ही प्रकार के नृपोचित गुण थे; भयंकर जन्तुओं तथा रत्नों से सम्पन्न समुद्र की भाँति वह अधृष्य (जिसका कोई अपमान न कर सके) एवं अभिगम्य (जो आश्रय लेने योग्य हो) दोनों ही था।'

तुलसीदास के राम और लक्ष्मण पराक्रमी अवश्य हैं। क्योंकि तुलसी भारतीय काव्य की परम्परा से परिचित थे इसलिए उन्होंने स्वभावतः उक्त पात्रों में शौर्य की प्रतिष्ठा की। किन्तु कुल मिला कर तुलसी के द्वारा किये हुए राम के वर्णन उनके सौंदर्य और शील का ही विशेष उद्घाटन करते हैं। राम के व्यक्तित्व में राजोचित भीमगुणों का समावेश नहीं है। भक्त तथा प्रेमी तुलसीदास को राम मुख्यतः शारीरिक एवं नैतिक सौष्ठव का अधिष्ठान दिखाई देते हैं। सच यह है कि तुलसी के समय की हिन्दू जनता उस ज्ञान तथा चेतना से प्रायः शून्य थी जो एक स्वतंत्र, आत्म-निर्भर जाति को स्वायत्त शासन के योग्य बनाती है।

'विनय-पत्रिका' में तथा अन्यत्र भी तुलसी ने जगह-जगह अपनी हीनता, अधमता आदि का बखान किया है। प्रकारान्तर से यह हीनता-भावना उस समय की हिन्दू जनता की अवनत अवस्था को प्रकट करती है। उस जनता में सम्भवतः आत्म-विश्वास का इतना ह्रास हो गया था कि वह भगवान के अवलम्बन के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा देखती ही न थी। जहाँ कालिदास के उन्नत युग में अपनी बुद्धि एवं अपने बल पर भरोसा रखना श्लाघ्य समझा जाता था, वहाँ तुलसी के समय में मनुष्य का सबसे आवश्यक गुण ईश्वर पर निर्भर होना बन गया था।

हमारे वक्तव्य का यह मतलब नहीं कि हम तुलसी को उनके आदर्शों के लिये दोषी ठहरा रहे हैं। भक्त तुलसीदास ने पददलित हिन्दू जाति को जो सन्देश एवं शिक्षा दी वह उस युग की आवश्यकताओं एवं मनोवृत्तियों के अनुकूल थी। दूसरा रास्ता यह था कि तुलसीदास हिन्दू जाति के सम्मुख वह आदर्श

गुण थे इसका कोई उल्लेख 'रामचरितमानस' में नहीं है। कालिदास ने दिलीप के सम्बन्ध में लिखा है,

> व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः
> आत्मकर्मक्षम देह क्षात्रो धर्म इवाश्रितः।
> भीमकान्तै नृपगुणै. स बभूवोपजीविनाम्।
> अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादो रत्नैरिवार्णवः।

'चौड़े वक्ष स्थल एव पुष्ट कन्धो वाला, शाल-वृक्ष की भांति लम्बा, मूर्त्तिमान क्षात्र-धर्म की भांति वह राजा अपने कर्म के योग्य शरीर को अधिष्ठित किये हुए था। उसमें भयानक तथा मनोज्ञ दोनो ही प्रकार के नृपोचित गुण थे; भयकर जन्तुओ तथा रत्नो से सम्पन्न समुद्र की भाँति वह अधृष्य (जिसका कोई अपमान न कर सके) एवं अभिगम्य (जो आश्रय लेने योग्य हो) दोनो ही था।'

तुलसीदास के राम और लक्ष्मण पराक्रमी अवश्य है। क्योकि तुलसी भारतीय काव्य की परम्परा से परिचित थे इसलिए उन्होने स्वभावतः उक्त पात्रों में शौर्य की प्रतिष्ठा की। किन्तु कुल मिला कर तुलसी के द्वारा किये हुए राम के वर्णन उनके सौंदर्य और शील का ही विशेष उद्घाटन करते हैं। राम के व्यक्तित्व में राजोचित भीमगुणो का समावेश नहीं है। भक्त तथा प्रेमी तुलसीदास को राम मुख्यत· शारीरिक एव नैतिक सौष्ठव का अधिष्ठान दिखाई देते हैं। सच यह है कि तुलसी के समय की हिन्दू जनता उस ज्ञान तथा चेतना से प्राय. शून्य थी जो एक स्वतंत्र, आत्म-निर्भर जाति को स्वायत्त शासन के योग्य बनाती है।

'विनय-पत्रिका' में तथा अन्यत्र भी तुलसी ने जगह-जगह अपनी हीनता, अधमता आदि का बखान किया है। प्रकारान्तर से यह हीनता-भावना उस समय की हिन्दू जनता की अवनत अवस्था को प्रकट करती है। उस जनता में सम्भवतः आत्म-विश्वास का इतना ह्रास हो गया था कि वह भगवान के अवलम्बन के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा देखती ही न थी। जहाँ कालिदास के उन्नत युग में अपनी बुद्धि एव अपने बल पर भरोसा रखना श्लाघ्य समझा जाता था, वहाँ तुलसी के समय में मनुष्य का सबसे आवश्यक गुण ईश्वर पर निर्भर होना बन गया था।

हमारे वक्तव्य का यह मतलब नहीं कि हम तुलसी को उनके आदर्शों के लिये दोषी ठहरा रहे हैं। भक्त तुलसीदास ने पददलित हिन्दू जाति को जो सन्देश एव शिक्षा दी वह उस युग की आवश्यकताओ एव मनोवृत्तियो के अनुकूल थी। दूसरा रास्ता यह था कि तुलसीदास हिन्दू जाति के सम्मुख वह आदर्श

आत्म-निर्भर, तेजस्वी पुरुष-पुंगव हैं, और उन सब गुणों से विभूषित हैं जो उनके विजयोल्लसित, प्रभावशाली जीवन एवं व्यक्तित्व के लिए अपेक्षित हैं।

सन्त तुलसीदास ने मानव-जीवन के आदर्श को दो प्रकार के पात्रों में चित्रित किया है, एक स्वयं राम के व्यक्तित्व में और दूसरे राम-भक्तों के। वस्तुत. 'रामचरित मानस' के अधिकांश पात्र राम-भक्त हैं, और उनके चरित्र के मूल्याकन का कवि के पास मुख्य पैमाना उनकी राम-भक्ति है। इसी पैमाने के अनुसार वे व्यक्ति जो राम-भक्त नहीं हैं.अधम या अवाछनीय हैं। 'रामचरित मानस' की इस बात के लिए प्रशसा की जाती है कि उसमें पिता-पुत्र, भाई-भाई आदि के पारस्परिक सम्बन्धो का उज्ज्वल रूप सामने रखा गया है, किन्तु ज्यादा सच बात यह है कि इन सम्बन्धों के बीच भी कवि ने मुख्यतः राम-भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। माता होने के नाते भरत को राज्य दिलाने का प्रयत्न करके कैकेयी ने कोई बड़ा अपराध नहीं किया—सम्भवतः अनुरक्त दशरथ उसे वैसा वचन भी दे चुके थे—किन्तु 'मानस' में कहीं इस तथ्य को लेकर कैकेयी की सराहना नहीं की गई है, और न भरत को माता की अवज्ञा करने के लिए कहीं दोषी ही ठहराया गया है। कारण स्पष्ट है—तुलसी की दृष्टि में सबसे बडा गुण राम-भक्ति है और सबसे बडा अवगुण राम-दोष—

जाके प्रिय न राम बैदेही
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।

'मानस' में भरत की महिमा मुख्यत· इसलिये है कि वे राम के सबसे बडे अनन्य भक्त हैं। राम-भक्ति के अतिरिक्त भरत का दूसरा मुख्य गुण यह है कि वे लौकिक भोगैश्वर्य के प्रति एकदम उदासीन हैं।

भरतहिं होइ न राजमद विधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काजी सीकरनि छीर सिंधु बिलगाइ॥

भरत स्थितप्रज्ञ हैं संसार के हानि-लाभो से पूर्णतया विरक्त। राम भी प्राय. वैसे ही हैं, अभिषेक की सूचना से वे प्रसन्न नहीं होते और वनवास की आज्ञा से मलिन या खिन्न नहीं होते। यश की कामना से विजय-अभियान करने वाले कालिदास के रघुवंशियो से वे कितने भिन्न हैं! संत तुलसीदास ने सूर्य-वंशी राम और भरत को भी तपस्वी, साधु-ब्राह्मणो जैसा बना डाला है! कालिदास ने अपने नायको की दर्जनो विशेषताओं का सूक्ष्म अंकन किया है, तुलसीदास ने राम के केवल उन गुणो का विशेष उल्लेख किया है जो उनकी भलमनसाहत प्रमाणित करते हैं। राम की अनुपस्थिति में भरत ने अनेक वर्षों तक अयोध्या का राज्य सँभाला, किन्तु भरत में एक सफल शासक के कितने

आत्म-निर्भर, तेजस्वी पुरुष-पुंगव हैं, और उन सब गुणों से विभूषित हैं जो उनके विजयोल्लसित, प्रभावशाली जीवन एवं व्यक्तित्व के लिए अपेक्षित हैं।

सन्त तुलसीदास ने मानव-जीवन के आदर्श को दो प्रकार के पात्रों में चित्रित किया है, एक स्वयं राम के व्यक्तित्व में और दूसरे राम-भक्तों के। वस्तुतः 'रामचरित मानस' के अधिकाश पात्र राम-भक्त हैं, और उनके चरित्र के मूल्याकन का कवि के पास मुख्य पैमाना उनकी राम-भक्ति है। इसी पैमाने के अनुसार वे व्यक्ति जो राम-भक्त नहीं हैं अधम या अवांछनीय हैं। 'रामचरित मानस' की इस बात के लिए प्रशसा की जाती है कि उसमें पिता-पुत्र, भाई-भाई आदि के पारस्परिक सम्बन्धो का उज्ज्वल रूप सामने रखा गया है, किन्तु ज्यादा सच बात यह है कि इन सम्बन्धो के बीच भी कवि ने मुख्यतः राम-भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। माता होने के नाते भरत को राज्य दिलाने का प्रयत्न करके कैकेयी ने कोई बड़ा अपराध नहीं किया—सम्भवतः अनुरक्त दशरथ उसे वैसा वचन भी दे चुके थे—किन्तु 'मानस' में कहीं इस तथ्य को लेकर कैकेयी की सराहना नहीं की गई है, और न भरत को माता की अवज्ञा करने के लिए कहीं दोषी ही ठहराया गया है। कारण स्पष्ट है—तुलसी की दृष्टि में सबसे बडा गुण राम-भक्ति है और सबसे बडा अवगुण राम-दोष—

जाके प्रिय न राम बैदेही
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।

'मानस' में भरत की महिमा मुख्यतः इसलिये है कि वे राम के सबसे बडे अनन्य भक्त हैं। राम-भक्ति के अतिरिक्त भरत का दूसरा मुख्य गुण यह है कि वे लौकिक भोगैश्वर्य के प्रति एकदम उदासीन हैं।

भरतहिं होइ न राजमद विधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काजी सीकरनि छीर सिंधु बिलगाइ॥

भरत स्थितप्रज्ञ हैं संसार के हानि-लाभो से पूर्णतया विरक्त। राम भी प्राय. वैसे ही हैं, अभिषेक की सूचना से वे प्रसन्न नहीं होते और वनवास की आज्ञा से मलिन या खिन्न नहीं होते। यश की कामना से विजय-अभियान करने वाले कालिदास के रघुवशियो से वे कितने भिन्न हैं! सत तुलसीदास ने सूर्य-वंशी राम और भरत को भी तपस्वी, साधु-ब्राह्मणो जैसा बना डाला है! कालिदास ने अपने नायकों की दर्जनो विशेषताओ का सूक्ष्म अकन किया है, तुलसीदास ने राम के केवल उन गुणो का विशेष उल्लेख किया है जो उनकी भलमनसाहत प्रमाणित करते हैं। राम की अनुपस्थिति में भरत ने अनेक वर्षों तक अयोध्या का राज्य सँभाला, किन्तु भरत में एक सफल शासक के कितने

गुण थे इसका कोई उल्लेख 'रामचरितमानस' में नहीं है। कालिदास ने दिलीप के सम्बन्ध में लिखा है,

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्राशुर्महाभुजः
आत्मकर्मक्षम देह क्षात्रो धर्म इवाश्रितः।
भीमकान्तै नृपगुणै. स बभूवोपजीविनाम्।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादो रत्नैरिवार्णवः।

'चौडे वक्ष स्थल एव पुष्ट कन्धो वाला, शाल-वृक्ष की भाँति लम्बा, मूर्त्तिमान क्षात्र-धर्म की भाँति वह राजा अपने कर्म के योग्य शरीर को अधिष्ठित किये हुए था। उसमें भयानक तथा मनोज्ञ दोनो ही प्रकार के नृपोचित गुण थे; भयकर जन्तुओ तथा रत्नो से सम्पन्न समुद्र की भाँति वह अधृष्य (जिसका कोई अपमान न कर सके) एवं अभिगम्य (जो आश्रय लेने योग्य हो) दोनों ही था।'

तुलसीदास के राम और लक्ष्मण पराक्रमी अवश्य है। क्योकि तुलसी भारतीय काव्य की परम्परा से परिचित थे इसलिए उन्होने स्वभावतः उक्त पात्रो में शौर्य की प्रतिष्ठा की। किन्तु कुल मिला कर तुलसी के द्वारा किये हुए राम के वर्णन उनके सौंदर्य और शील का ही विशेष उद्घाटन करते है। राम के व्यक्तित्व में राजोचित भीमगुणों का समावेश नहीं है। भक्त तथा प्रेमी तुलसीदास को राम मुख्यतः शारीरिक एवं नैतिक सौष्ठव का अधिष्ठान दिखाई देते है। सच यह है कि तुलसी के समय की हिन्दू जनता उस ज्ञान तथा चेतना से प्राय. शून्य थी जो एक स्वतत्र, आत्म-निर्भर जाति को स्वायत्त शासन के योग्य बनाती है।

'विनय-पत्रिका' में तथा अन्यत्र भी तुलसी ने जगह-जगह अपनी हीनता, अधमता आदि का बखान किया है। प्रकारान्तर से यह हीनता-भावना उस समय की हिन्दू जनता की अवनत अवस्था को प्रकट करती है। उस जनता में सम्भवत. आत्म-विश्वास का इतना ह्रास हो गया था कि वह भगवान के अवलम्बन के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा देखती ही न थी। जहाँ कालिदास के उन्नत युग में अपनी बुद्धि एव अपने बल पर भरोसा रखना श्लाघ्य समझा जाता था, वहाँ तुलसी के समय में मनुष्य का सबसे आवश्यक गुण ईश्वर पर निर्भर होना बन गया था।

हमारे वक्तव्य का यह मतलब नहीं कि हम तुलसी को उनके आदर्शों के लिये दोषी ठहरा रहे है। भक्त तुलसीदास ने पददलित हिन्दू जाति को जो सन्देश एव शिक्षा दी वह उस युग की आवश्यकताओ एवं मनोवृत्तियो के अनुकूल थी। दूसरा रास्ता यह था कि तुलसीदास हिन्दू जाति के सम्मुख वह आदर्श

रखते जो बाद में शिवाजी ने रखा। कुछ भी हो, देखने की बात यह है कि तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित ईश्वर भक्ति, ईश्वर-निर्भरता आदि के आदर्श आज हमारे लिये अग्राह्य ही नहीं, हानिकर भी हैं।

५

एक दृष्टि से सन्त परम्परा के कवियों ने हमारी सांस्कृतिक दृष्टि को वाञ्छनीय प्रौढ़ता भी प्रदान की। कालिदास के युग में इस देश के लोगो में अपनी विजयों तथा सफलताओ की स्मृति ही प्रधान थी। सम्भवतः कालिदास से कुछ ही पहले भारतीय सेनाओं ने शकों, हूणों आदि को पराजित किया था। किन्तु जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में दु खों एवं संकटों की अनुभूति के बिना मनुष्य प्रौढ़ जीवन-विवेक को प्राप्त नहीं कर पाता, वैसा ही जातीय-जीवन में भी होता है। एक परिपूर्ण सस्कृति में सुख-दु.ख, हार-जीत आदि सभी अवसरो का सामना करने लायक बुद्धि-बल तथा आत्म-बल होना चाहिये। सन्तो का काव्य प्राय' हिन्दुओ की हीनावस्था में लिखा गया है, अतः उसकी प्रमुख विशेषता यह है कि वह हमें विपत्ति में धैर्य एवं सन्तुलन न खोने का सन्देश देता है। तुलसी के राम और भरत हमें गीतोक्त स्थितप्रज्ञता के आदर्श की पुनः याद दिलाते है, मानो उनके द्वारा तुलसी हिन्दू जनता को यह सन्देश दे रहे हो कि एक महान् जाति के जीवन में राज-शक्ति का हस्तान्तरित होना बहुत ज्यादा महत्त्व की बात नहीं है। मानवता का इतिहास भी इस तथ्य को प्रमाणित करता है। प्राय. डेढ़ सौ वर्ष राज्य करके अगरेज लोग भारतवर्ष से विदा हो गये। महत्वपूर्ण होते हुए भी यह घटना भारतवर्ष के इतिहास में उतनी महत्वपूर्ण नहीं है। ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि किस प्रकार, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद, हम अपनी संस्कृति का पुनरुज्जीवन एव पुर्ननिर्माण करते हैं।

संत परम्परा का आज भी हमारे ऊपर गहरा प्रभाव है। अपने लम्बे इतिहास में हमारा देश प्रायः कभी भी एक आक्रामक राष्ट्र नहीं रहा है। देश की सस्कृति पर इस प्रकार का प्रभाव डालने वाले बौद्ध ही नहीं, हमारे उपनिषद् भी है। हमारे सत कवि तथा शिक्षक सदा से इस बात पर गौरव देते आये हैं कि सासारिक सपत्ति एव भोगो में मनुष्य को अधिक आसक्त नहीं होना चाहिए और इतना आसक्त तो हरगिज़ नहीं कि उनके लिए दूसरे व्यक्तियो अथवा राष्ट्रो पर अन्यायपूर्ण हमला करे। आधुनिक काल में अपनी 'नैशनेलिज्म" (राष्ट्रवाद) पुस्तक में रविबाबू ने इस बात पर ज़ोर दिया कि आक्रमण-मनोवृत्ति से सहचरित राष्ट्रवाद मानवता की शान्ति तथा सुख के लिए बाधक है। इस प्रकार हम रवीन्द्र के विचारो तथा गाधी के क्रिया-कलापो में सन्तो की

सांस्कृतिक दृष्टि एव शिक्षाओं का प्रभाव देख सकते हैं। कालिदास के नायक यश के लिए विजय की कामना करते थे; तुलसी के राम तथा आज के भारतीय नेता हमें केवल अन्याय के प्रतिकार के लिए ही शस्त्र उठाने की छूट देना चाहते हैं। निष्कर्ष यह है कि तुलसी जैसे प्रतिनिधि कवियों के अध्ययन के बिना हम न तो भारतीय सस्कृति को ही ठीक से समझ सकते हैं और न आज के भारतवर्ष को।

लेकिन आज केवल सन्तो की शिक्षा हमारे लिये पर्याप्त नहीं है। हम आक्रामक न बनें, यह ठीक है; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपनी लौकिक उन्नति की उपेक्षा करें। इस दृष्टि से रवीन्द्र तथा सन्त कवियो, दोनों की अपेक्षा कालिदास एव सस्कृत कवि हमारा ज्यादा ठीक पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं।

: १० :

प्रयोगवादी काव्य—विश्लेषण और सुझाव

काव्य-साहित्य के क्षेत्र में नये प्रयोग और आन्दोलन बराबर होते आये है। उदाहरण के लिए यदि हम योरप के पिछले तीस-पैंतीस वर्ष के साहित्य को लें, तो हम पायेंगे कि वहाँ प्रत्येक दस वर्ष में एक नया आन्दोलन खड़ा हो जाता है। उन्नीसवीं सदी के योरप में भी रोमांटिक साहित्य का प्रभावशाली आन्दोलन चला था। अपने देश में, और विशेषत' हिन्दी भाषी प्रान्तो में, पिछले तीन दशकों में कम-से-कम तीन वाद या आन्दोलन उठते दिखाई दिये है, अर्थात् छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद। अन्तिम दो छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उत्थित हुए है। प्रथम महायुद्ध से सन् पैंतीस तक प्राय. ,छायावाद की प्रधानता का युग था। उसके बाद क्रमश. प्रगतिवादी आन्दोलन जोर पकड़ता गया जो आज भी एक प्रवृत्ति और आन्दोलन के रूप में जीवित है। तीसरी प्रयोगवादी धारा का प्रारम्भ बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक से समझना चाहिए। सन् १९४३ में "तार सप्तक" के प्रकाशन के साथ इस धारा ने आलोचको तथा पाठको का ध्यान विशेष रूप में आकृष्ट किया।

यहाँ हम प्रयोगवादी काव्य अथवा प्रयोगवाद की परिभाषा देने का प्रयत्न नहीं करेंगे। हम मान लेंगे कि हम साधारणतया उसके स्वरूप या शैली से परिचित है। सक्षेप में प्रयोगवादी कविता के छन्द-विधान, शब्द-चयन, अलंकार-योजना तथा सवेदना सभी में नवीनता या निरालापन दिखाई देता है। प्रयोगवाद का सम्बन्ध किसी विशिष्ट जीवन दर्शन या जीवन दृष्टि से उतना नहीं जान पडता जितना कि शैलीगत विशेषताओं से। यो तो अनेक प्रयोगवादी कवि अपने को मार्क्सवाद का समर्थक अथवा प्रगतिवादी भी कहते है।

प्रश्न यह है कि इस प्रयोगवाद के प्रेरणा स्रोत क्या है? वह किन देशी-विदेशी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विचार-सरणियो अथवा साहित्यिक शैलियो से प्रभावित हुआ है, और इसका अपने युग अथवा युग-जीवन से क्या सम्बन्ध है?

कहा जाता है, और यह ठीक भी है, कि काव्य-साहित्य का विषय जीवन है। इससे अनुगत होता है कि सब प्रकार के साहित्य की प्रेरणा जीवन से आनी चाहिए। यह ठीक है, किन्तु जीवन जैसी जटिल वस्तु के स्वरूप और सीमाओ का निर्धारण सहज नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि साहित्य की प्रेरणा युग-विशेष का अपना जीवन होता है, या होना चाहिए। किन्तु युग-विशेष के जीवन की परिभाषा करना भी दुष्कर काम है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि आज की दुनिया में जीवन की दो प्रमुख व्यवस्थाएँ वर्तमान है, एक पूँजीवादी दूसरी, समाजवादी। किन्तु जीवन के अन्तर्गत युद्ध और शान्ति तथा जाति-भेद की समस्याएं भी मौजूद है, और ये समस्याएँ हमें बुद्ध तथा गांधी जैसे शिक्षको का स्मरण दिलाती ह। जीवन केवल आर्थिक एव वर्गगत सम्बन्धो का ही पर्याय नहीं है, उसके भीतर पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, आस्तिकता-नास्तिकता आदि दसियो समस्याएँ और उनके समाधान के प्रयत्न समाविष्ट रहते है।

मतलब यह कि मानव-जीवन के अनेक पहलू है, जो विचारको तथा साहित्यकारो को भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रेरणा देते रहते है। अत. हमें देखना चाहिए कि हमारे युग-जीवन के वे कौन से पक्ष है जो प्रयोगशील साहित्यकारो को प्रेरणा दे रहे है।

नर-विज्ञान के पडितों का विचार है कि मनुष्य अनुकरण से जितना सीखते है उसकी तुलना में स्वतन्त्र उद्भावना का अश जीवन में कम ही रहता है। हमारे देश का साहित्य, अग्रेजो से सम्पर्क होने पर, अक्सर योरपीय साहित्य से प्रभावित होता रहा है। उदाहरण के लिए रवीन्द्र के तथा छायावादी काव्य पर अग्रेजी के रोमांटिक कवियो का विशेष प्रभाव पडा। इसी तरह प्रयोगवादी काव्य पर भी योरपीय साहित्य का प्रभाव पडा है।

इस समय हमारे साहित्य पर योरप का प्रभाव दो रूपो में दिखाई देता है। जिन्हें हम प्रगतिवादी लेखक कहते है वे रूसी साम्यवाद की विचारधारा से विशेष प्रभावित है। इन लेखको का एक स्वीकृत जीवन-दर्शन है, जीवन के प्रति एक सुनिश्चित दृष्टिकोण है। कई तथाकथित प्रयोगवादी लेखक मार्क्स-वादी भी है। ये लेखक केवल काव्य के रूप या शैली की दृष्टि से ही प्रयोग-वादी कहे जा सकते है। कम-से-कम वे अपने को अप्रगतिशील कहने को तैयार नहीं है।

किन्तु वास्तविकता यह है कि काव्य की विषय-वस्तु और रूप को सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। एक विशेष शैली एक विशिष्ट सवेदना को ही

प्रकट कर सकती है। फलत. वे लेखक जो प्रयोगवादी होते हुए भी अपने को प्रगतिवादी कहते हैं वस्तुतः वैसा काव्य नही लिख पाते जिसे प्रगतिवादी कहा जा सके, अर्थात् ऐसा काव्य-साहित्य जो सुबोध शैली में सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त करे। इसलिए व्यवहार में उन प्रयोगवादियो को जो प्रगतिवादी हैं या कहलाना चाहते हैं, दूसरे प्रयोगवादियो से जो अपने को प्रगतिवादी नहीं कहते, भिन्न करना कठिन हो जाता है।

स्वयं प्रयोगवादी साहित्यकार अंग्रेजी के इलियट, इज़रा पाउंड, वर्जीनिया वुल्फ, जेम्स ज्वायस आदि कवियो तथा कथाकारो से प्रेरणा लेते रहे हैं। इस प्रेरणा का विशिष्ट स्वरूप क्या है ?

एक शब्द में कहें तो इस प्रेरणा का मूलतत्व है—अनास्था, अर्थात् स्वीकृत भावनाओ एवं दृष्टियो के प्रति विद्रोह की भावना। विश्वासी अथवा आस्थावान् लेखक को जीवन की कुछ चीजें ज्यादा महत्वपूर्ण दिखाई देती है, कुछ कम। वैसा लेखक पद-पद पर मूल्याकन और उस पर आधारित चयन करता चलता है। इस क्रिया में वह आवश्यक रूप में प्राचीन पैमानो का सहारा लेता है। इसके विपरीत उपरोक्त लेखक वैसा कोई आधार लेकर नहीं चलते। वे प्राचीन परम्परायुक्त भावनाओ के स्थान पर नई, अपने युग की, भावनाएँ प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। फलत. वे कोशिश करके शब्दो तथा व्यजनाओ के पुराने अनुषगो को बचाकर चलते हैं। इसके फलस्वरूप उनकी भाषा और व्यजनाएँ, उनके अलकार और मुहावरे, भिन्न तथा अटपटे जान पड़ते हैं। वे उन पाठको को जिन्होंने अपनी सवेदना का विकास विगत युग या युगों का साहित्य पढ़ कर किया है, दुरूह भी प्रतीत होते हैं।

अपने उपन्यासो में वर्जीनिया उल्फ और उससे भी अधिक जेम्स ज्वायस घोर यथार्थवादी दृष्टिकोण से लिखते हैं। वे यथार्थ से चयन नहीं करना चाहते—क्योंकि जीवन में कोई चीज़ किसी दूसरी चीज़ से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। पहले के साहित्यकार कुछ चीज़ो को सुन्दर कहते आये हैं, पर क्या जरूरी है कि आज का साहित्यकार उन्हे सुन्दर या भव्य समझे ? क्यो नहीं वह तथाकथित कुरूप और भव्य को उतना ही महत्व दे ? फलतः प्रयोगवादी कवि कविता के लिये ऊँचे या महत्वपूर्ण समझे जानेवाले विषयो की खोज नहीं करता। उदाहरण के लिये पहले "तारक सप्तक" की कुछ कविताओ के शीर्षक ये हैं—"चूडी का टुकड़ा", "रुक कर जाती हुई रात", "भीगा दिन", "चलते-चलते," "मै और खाली चा की प्याली" इत्यादि।

प्रश्न यह है कि काव्य साहित्य की इन प्रवृत्तियो का हमारे युग-जीवन से

क्या सम्बन्ध है ? क्यों इलियट और पाउड, अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल अथवा गिरिजाकुमार माथुर ऐसे मुहावरे में लिखते है जो पिछले युग की कविता के मुहावरे से एकदम भिन्न है ? इसका उत्तर समझने के लिये हमें उन परिस्थितियो पर दृष्टि डालनी होगी जिन्होने योरप में और फिर हमारे यहाँ ऐसे काव्य-साहित्य को जन्म दिया।

इस काव्य के प्रचार से पूर्व जो कविता प्रचलित थी वह मुख्यतः रोमाटिक काव्य था जो आस्था और विश्वास का काव्य है। रोमाटिक कवि को चारो ओर सौन्दर्य का साम्राज्य दिखाई देता है—प्रकृति में, शिशु में, नारी में। हिन्दी के छायावादी काव्य में इसी सौन्दर्य-भावना की प्रतिष्ठा है। रोमाटिक कवि प्राय. सभी यह मानते रहे कि विश्वब्रह्माड किसी आध्यात्मिक, कल्याणमयी सत्ता की अभिव्यक्ति है। स्वदेश में रवीन्द्रनाथ का काव्य इसी भावना से ओत-प्रोत है।

किन्तु योरप में जब प्रथम महायुद्ध हुआ तो सवेदनशील लेखकों की कोमल विश्वास-भावना को आघात लगा। युद्ध की विभीषिका ने लोगो का हृदय झकझोर दिया। पुराने मूल्यो और विश्वासो में आस्था डगमगाने लगी। इलियट आदि की रचना में इसी विघटित आस्था-भावना का विघटित सवेदना का चित्र है।

यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी का छायावादी काव्य मुख्यत. प्रथम महायुद्ध के बाद ही लिखा गया। जैसे ये कवि जीवन की अपेक्षा काव्य की परम्परा से अधिक प्रभावित थे, रवीन्द्र के काव्य से और रोमाटिक काव्य से। इसी प्रकार हमारे देश में प्रयोगवादी काव्य का उत्थान भी कुछ देर से हुआ है। उस पर भी युग-जीवन की अपेक्षा योरपीय काव्य की परम्परा का अधिक प्रभाव है। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि आज के स्वतन्त्र भारत में भी अनास्था और नैराश्य की भावनाएँ पर्याप्त मात्रा में मौजूद नहीं है।

काव्य-साहित्य में प्राय. सभी क्रान्तियाँ साहित्य को जीवन के निकट लाने के लिये होती है। इस दृष्टि से वर्डस्वर्थ, शेली आदि रोमाटिक कवि क्रान्तिकारी थे। वे जनतन्त्र की समता, सर्वबन्धुता आदि भावनाओ के गायक थे। वर्ड्स्वर्थ ने इस बात पर गौरव दिया कि कविता की भाषा जन भाषा के निकट होनी चाहिए, और उसमें निबद्ध भावनाएँ भी जनता की भावनाएँ होनी चाहिएँ। इस दृष्टि से प्रयोगवाद भी कविता को जीवन के निकट लाता है। वह कविता को मिथ्या विश्वासो और त्यक्त आदर्शों के आकर्षक शब्द-जाल से मुक्त कर के उसका सम्बन्ध अपने युग से जोडना चाहता है। हमारा वर्तमान युग यन्त्रो से घिरे और थके हुए जीवन का युग है। आप किसी आफिस में जाकर वहा के

क्लर्को के जीवन का निरीक्षण कीजिए, किसी स्कूल के अध्यापको के जीवन की परीक्षा कीजिए। आप वहाँ पायेंगे अनवरत काम, अनवरत श्रान्ति और जीवन की किसी उच्चतर परिणति या उज्ज्वल भविष्य में अविश्वास। थका व्यक्ति स्वर्ग तथा मोक्ष की कल्पनाएँ नहीं करता, उसे जीवन और उसकी सारी चीजें साधारण जान पडती है, अति साधारण। उसे कहीं ईश्वर दिखाई नहीं देता। उसे कुछ पवित्र नहीं लगता, कुछ भी हेय या उपादेय नहीं जान पडता। अनवरत परिश्रम उसकी कल्पना-शक्ति और ऊचे उठने की आकाक्षा को कुठित कर देता है। प्रयोगवादी काव्य कुछ ऐसी ही कुठित सवेदना को प्रकट करने का प्रयत्न करता है। हिन्दी की प्रयोगवादी शैली व्यग्य-मूलक भावनाओ के प्रकाशन के लिए विशेष उपयोगी है।

हमने कहा कि हमारी साम्प्रतिक अनास्था के मूल में युद्ध-जन्य विभीषिका है। योरप में अनास्था की भावना का एक उत्थान तब हुआ था जब उन्नीसवीं सदी में डार्विन के विकासवाद ने मनुष्य की ईश्वर तथा आत्मा से सम्बन्धित धार्मिक भावनाओ पर आघात किया था। इस आघात की प्रतिक्रिया मैथ्यू आर्नल्ड, टेनीसन आदि कवियो में पाई जाती है। यह नहीं कि डार्विन से पहले योरप में जड़वाद अथवा भौतिकवाद के समर्थक विचारक नहीं हुए थे, अठारहवीं सदी के फ्रांस में अनेक वैसे दार्शनिक हुए तथा उन्नीसवीं सदी में डार्विन से पहले कार्लमार्क्स अपने भौतिक द्वन्द्ववाद का प्रतिपादन कर रहा था। किन्तु डार्विन के सिद्धान्त ने पहली बार भौतिकवाद अथवा नैरात्म्यवाद एवं अनीश्वरवाद को पुष्ट वैज्ञानिक आधार दिया। फलतः इस सिद्धान्त ने धार्मिक जगत में बड़ी हलचल पैदा कर दी।

किन्तु योरप के लोग धीरे-धीरे अनीश्वरवाद से उत्पन्न अनास्था के अभ्यस्त हो गये। परलोक भले ही न हो, लेकिन इस लोक के जीवन को तो सुन्दर बनाया ही जा सकता है। योरप ने जनतन्त्र के बड़े-बडे प्रयोग किये और लम्बी-चौडी यान्त्रिक तथा औद्योगिक उन्नति की।

उन्नीसवीं सदी में योरप के विचारको का यह सामान्य विश्वास था कि मानव-जाति लगातार उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रही है; एव उसके ज्ञान तथा सुख के साधनो में निरन्तर वृद्धि हो रही है। उन्नीसवीं सदी ने "इतिहास-दर्शन" नामक नये विज्ञान को जन्म दिया। उक्त शताब्दी के दो बडे इतिहास के विचारक हीगल और कार्लमार्क्स है। इन दोनो ही विचारको का मत है कि मानव-जाति लगातार प्रगति कर रही है। हीगल के अनुसार विश्व की प्रगति का सूत्र आध्यात्मिक शक्तियों के हाथ में है; प्रगति विश्व-ब्रह्माण्ड का

अध्यात्मिक नियम है। मार्क्स के अनुसार इतिहास के नियामक कानून भौतिक एव ऐतिहासिक हैं। गत शताब्दी के विचारको ने डार्विन के विकासवाद की भी प्रगति-मूलक व्याख्या की। मतलब यह कि पिछली शताब्दी की मनोवृत्ति में आशावादी तत्वो का बाहुल्य था।

इसके विपरीत वीसवीं सदी के ऐतिहासिक विचारक, जैसे स्पैंगलर प्रायः निराशावादी हैं। मानवता की निरन्तर प्रगति में विश्वास न रखते हुए ये विचारक इतिहास की चक्रवादी व्याख्यायें देते हैं। इतिहास में उन्नति के बाद अवनति और अवनति के बाद उन्नति के युग आते-जाते रहते हैं। उन्नति या प्रगति मानव-जीवन तथा इतिहास का आवश्यक नियम नहीं है। कहना न होगा कि टी०-एस० इलियट आदि की रचनाओ में इसी निराशावादी मनोवृत्ति की प्रतिध्वनि है। प्रयोगवादी काव्य भी ऐसी ही मनोवृत्ति को प्रतिफलित या व्यक्त करना है।

प्रयोगवाद का भविष्य

अभी तक प्रयोगवादी कवियो की शक्ति मुख्यतः शैलीगत निरालेपन की उपलब्धि में व्यय हुई है। भाषा, मुहावरे, अलकार आदि की नूतनता की ओर ज्यादा ध्यान दिया जाता रहा है। फलतः प्रयोगवादी काव्य में अभी तक सहजता एव स्वाभाविक परिमार्जन की कमी रही है, उसकी नूतनता अक्सर प्रयास-लब्ध जान पडती है। इधर उर्दू छन्दो का आश्रय लेकर नये ढग के प्रयोग होने लगे हैं, जिसमें नूतनता के साथ सहज सजीवता एव रोचकता का समावेश दीखता है। इन प्रयोगो का स्वागत होना चाहिए। हिन्दी की शैली को सप्राण बनाने के अतिरिक्त ये प्रयोग हिन्दी-उर्दू की दूरी को घटाने में भी सहायक होंगे।

किन्तु इस प्रकार के फुटकल प्रयोग काफी नही हैं। बोल-चाल की भाषा के निकट होने से कविता की भाषा में सजीवता आती है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु काव्य-साहित्य का लक्ष्य केवल सुबोध होना अथवा रोचक होना ही नहीं है। उसका गम्भीर उद्देश्य है, युग-जीवन की समग्रता, अर्थात् उसकी सम्पूर्ण सम्भावनाओ को, व्यवस्थित अभिव्यक्ति देना। अभिप्राय यह कि इस युग के कवियो को शब्दो के कोरे अनास्थामूलक प्रयोग से विरत होकर जीवन के प्रति अपने-अपने भावात्मक दृष्टिकोण को निर्मित तथा प्रकाशित करना पड़ेगा। किन्तु ऐसा करने के लिये प्रयत्नशील जिम्मेदार कवि न तो देश की तथा विश्व की सास्कृतिक विरासत की ही उपेक्षा कर सकेगा, न पुरानी शब्द-सम्पत्ति की ही। जीवन की समग्रता इतनी जटिल है कि उसके प्रकाशन के लिए विभिन्न भाषाओ का चिर-सचित शब्द-वैभव भी काफी नहीं है। अतएव नई व्यञ्जनाओ

तथा मुहावरो की अधिकाधिक सृष्टि करते हुए भी कोई कवि पुरानी शब्दावलि के प्रति विमुख नहीं हो सकता। विशेषत वृहत्तर कोटि की काव्य-रचना के लिए, पद्य, नाटक, महाकाव्य आदि बडे प्रयत्नो के अनुष्ठान के लिए, यह अनिवार्य है कि कवि भाषा की समूची शब्द-शक्ति का उपयोग करे। कोई भी प्रयोगवादी कवि अभी तक इस प्रकार के बड़े दायित्व का अनुभव करता नहीं दीखता। विशुद्ध रोमांटिक सम्वेदना गीतिकाव्य में पूर्ण अभिव्यक्ति पा सकती है, किन्तु गीतो अथवा फुटकल कविताओ का माध्यम दूसरे प्रकार की संवेदनाओं के प्रकाशन के लिये पर्याप्त नहीं है। हिन्दीकाव्य की इस समय एक बड़ी आवश्यकता यह है कि उसके आधुनिक सम्वेदना-सम्पन्न कवि कथात्मक रचनाओं के माध्यम से जीवन के नैतिक-सामाजिक पहलुओ की विवृति करें। आधुनिक सम्वेदना का न्यूनाधिक वहन करने वाले काव्य हिन्दी में कम ही हैं, 'कामायनी' कुछ हद तक वैसी कृति है, और दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' भी। दिनकर के दूसरे काव्य 'रश्मिरथी' का धरातल इस दृष्टि से, 'कुरुक्षेत्र' से नीचा है। आज के कवि काव्य को रोचक एवं सजीव बनाने के नये उपाय खोज रहे हैं, हमारा सुझाव है कि कथातत्व का आश्रय लेते हुए वे अपने काव्य को सहज ही रोचक बना सकेंगे। ऐसे काव्य में नई जीवन-दृष्टियो के समावेश के लिये भी स्वाभाविक क्षेत्र मिल सकेगा। अवश्य ही इस प्रकार की रचना विचारों, जीवनानुभूति, तथा व्यञ्जना-शक्ति पर अधिक प्रौढ़ अधिकार माँगती है। जो साधारण प्रतिभा वाले कवियो में संभव नहीं है, उसके लिये दीर्घ साधना भी अपेक्षित है। किन्तु इसीलिये वैसी रचना ज्यादा स्थायी भी होती है—आज सैंकडो कवितायें लिख चुकने के बावजूद नरेन्द्र शर्मा जैसे कवियो की कोई ठोस उपलब्धि दृष्टिगोचर नहीं होती। यह कथन 'अज्ञेय' तक के बारे में काफी हद तक सही जान पड़ेगा। आशा है हमारा यह वक्तव्य नई पीढ़ी के कवियों का ध्यान आकृष्ट करेगा।

: ११ :

प्रयोगवादी कविता

हम जान-बूझकर, अतिव्याप्ति को बचाने के लिये, 'नई' के बदले 'प्रयोग-वादी' विशेषण का प्रयोग कर रहे हैं। हमें यहाँ प्रयोगवादी काव्य की प्रेरणा एव प्रगति का पर्यालोचन करना है।

अवश्य ही प्रयोगवादी काव्य किसी बलवती प्रेरणा की अभिव्यक्ति है; चाहे तो आप उस प्रेरणा को युग की जरूरत या माँग कह सकते हैं। इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि कल के प्रगतिवादी भी आज प्रयोगवादी मुहावरे में लिखने का प्रयत्न करते पाये जाते हैं—लिख रहे हैं।

कविता या साहित्य में नई शैलिया क्यों उगने लगती है? इस प्रश्न का उत्तर कई प्रकार से दिया जा सकता है—अथवा कई उत्तर दिये जा सकते हैं। एक, बहुत दिनो तक एक मार्ग या लीक में चलते-चलते पुरानी कविता रूढ़ि-ग्रस्त एवं अरोचक हो जाती है, इसलिये, दूसरे, काव्य-भाषा को जन-भाषा के निकट लाने के लिये, अथवा काव्य-निबद्ध अनुभूति को जन-जीवन के सम्पर्क में लाने के लिये, तीसरे, बदले हुए जीवन की नई सम्भावनाओं के उद्घाटन के लिये, अथवा नये मूल्यो की प्रतिष्ठा के लिये। नई शैली का अर्थ है-जीवन या अनुभव-जगत के नये पहलुओ को नई दृष्टि से देखना, और उन्हे नये चित्रो, प्रतीको, अलकारो द्वारा अभिव्यक्ति देना।

हमारा युग प्राचीन मूल्यो के सम्पूर्ण विघटन, उनके प्रति पूर्ण अनास्था, का युग है, इसलिये हमारे कवियो की 'दृष्टि', उनके देखने और प्रतिक्रिया करने का तरीका भी, पूर्णतया बदल जाना चाहिये। 'प्रयोगवादी' कविता यही करना चाहती है, इसीलिये वह पुराने संस्कारों के पाठको को अटपटी और कभी-कभी असवेद्य लगती है। वह उनके बद्धमूल सस्कारो से एकदम ही मेल नहीं खाती।

अंग्रेजी में प्रयोगवादी-जैसी कविता प्रथम महायुद्ध के बाद के अनास्था-मूलक वातावरण में उद्भूत हुई। किन्तु उस समय रवीन्द्र से प्रभावित छायावादी कवि रहस्यवाद लिख रहे थे। हिन्दी प्रयोगवाद भी केवल युग से प्रभावित नहीं है—वह बहुत हद तक इलियट, पाउण्ड आदि की शैली के अनुकरण में

उत्थित हुआ है। यह इसलिये कहना पडता है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय कवि देश के निर्माण, उसकी सृजनात्मक शक्तियो के पुर्नविकास के, सशक्त स्वप्न भी देख सकते थे—नयी स्फूर्त्ति-दायक जीवन-दृष्टियो की परिकल्पनायें भी कर सकते थे। अवश्य ही वैसी जीवन-दृष्टि या दृष्टियाँ भा रहस्यवाद एवं परलोकवाद से मुक्त होकर ही 'नवीन' विस्तार पा सकेंगी; वे भी पुराने मुहावरो में "फिट" न होगी।

अब तक हमारे प्रयोगवाद का विकास किन दिशाओ में हुआ है ? उत्तर है—जन-भाषा की अधिकाअधिक निकटता की ओर, रूप-विधान अथवा शिल्प के अधिक साहसी नये प्रयोगो की ओर। यह प्रगति है; यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि तत्सम तथा जन-भाषा के शब्दों के मिश्रण की अपेक्षा (जैसा कि प्रथम 'तारसप्तक' में है) शुद्ध जन-भाषा का प्रयोग ज्यादा रोचक और अर्थवादी होता है। हमारी राय है कि समृद्ध साहित्य-सृष्टि भाषा के सारे उपकरणो का उपयोग करते हुए ही सम्भव होती है।

साम्प्रतिक प्रयोगवाद की तीन मुख्य कमियाँ है। एक, कविगण नई 'दृष्टि' द्वारा नूतनता उत्पन्न न करके सिर्फ शब्दो तथा अलंकारो की विलक्षणता द्वारा प्रभाव उत्पन्न करना चाहते हैं। श्री गिरिजाकुमार माथुर के शब्दों में वे 'चौंकाने, ध्यान आकृष्ट करने, नई शैली का आभास पैदा करने' की ओर ही ज्यादा उन्मुख हैं। हमारा अनुमान है कि किसी भी युग की प्रयोगशील कविता सिर उछाल-उछालकर अपनी प्रयोगशीलता की घोषणा नहीं करती। किसी भी शैली की यथार्थ सफलता इसमें है कि वह अपने को वक्तव्य की महत्ता में खो दे।

प्रयोगवाद की दूसरी और ज्यादा बडी कमी—जो प्रथम से सम्बद्ध है—है, कवियो में व्यक्तित्व की कमी या अभाव। इस कमी के मूल में पारस्परिक अनुकरण या होड़ की प्रवृत्ति भी है, और गम्भीर साधना का अभाव भी।

कवियों की साम्प्रदायिक-जैसी दीखने वाली एकता—शैली, अर्थात् मुहावरो, चित्रो, लय-विधान आदि की समानता—जहाँ उन्हे सगठन का वल देती है, वहाँ उनके व्यक्तित्वो को अनिर्दिष्ट भी वना देती है। इस दृष्टि से प्रथम 'सप्तक' के वाद प्रयोगवादी कविता ने कोई प्रगति की है, इसमें सन्देह किया जा सकता है। साम्प्रदायिक ऐक्य और व्यक्तित्वो के अपूर्ण विकास के कारण ही प्रगतिवाद हमें कोई महत्त्वपूर्ण कवि नहीं दे सका।

हम अपनी वात दूसरे ढग से कहे। व्यक्तित्व-सम्पन्न साहित्यकार का जीवन के कुछ क्षेत्रो से विशेष परिचय होता है, जिनका वह विशेष अन्वेपण-उद्घाटन

करता है। उसकी अपनी निजी साधना और दृष्टि भी होती है। छायावाद के चार प्रमुख कवियो का अपना-अपना व्यक्तित्व रहा है—प्रत्येक का अपना विशिष्ट क्षेत्र और अपना सौन्दर्य-बोध। अपने विशिष्ट क्षेत्र में उनमें से प्रत्येक की उपलब्धि एक सीमा तक विशद एव प्रौढ हो सकी है। किसी भी प्रगतिवादी कवि के सम्बन्ध में ये बातें नहीं कही जा सकतीं। इन दृष्टियों से 'अज्ञेय' का कृतित्व भी प्रमुख छायावादियो का समकक्ष—अभी तक नहीं है।

यह नहीं कि नई कविता वैसे व्यक्तित्व पैदा नहीं करेगी। हमें कहना यह है कि वैसे व्यक्तित्व अनवरत साधना द्वारा ही गठित हो सकेंगे। अनास्था और निषेध की भूमिका से निकल कर भविष्य के श्रेष्ठ कवियो को जीवन के प्रति सुचिन्तित, सशक्त भावात्मक दृष्टिकोण विकसित करना होगा और अपनी सवेदना के अनुकूल क्षेत्रो में मार्मिक, विस्तृत एव प्रौढ़ सृजन के अनुष्ठान करने पड़ेंगे। इस दृष्टि से नये कवियो का काम रवीन्द्र तथा छायावादियो से कहीं कठिन है, उन कवियो को परम्परा प्राप्त जीवन-दर्शन का बल था, आज जीवन-दृष्टि को विकसित करने की समस्या है। मार्क्स का एकागी जीवन-दर्शन आज के जटिल युग तथा भारत जैसे प्राचीन देश के लिए पर्याप्त नहीं है—यह हमारी पिछले पन्द्रह वर्ष की अल्प-सफल काव्य-रचना से भी सिद्ध है।

तीसरे, अधिकाश प्रयोगवादी कवियों की रचना में उस अनुशासन की कमी दिखाई देती है जो विशिष्ट कविता अथवा कृति को चुस्त सगठन एव विशद ओज देता है। इस दृष्टि से नये कवि बच्चन के काव्य से—जो जन-भाषा के निकट है—सही प्रेरणा ले सकते हैं। स्पष्ट ही इसका अर्थ बच्चन के छन्दो, मुहावरो एवं सवेदना का अनुकरण नहीं है।

अर्ध विकसित कवि इस बात को महसूस कर पाते है कि मुक्त छन्द लिखना छन्दबद्ध काव्य-रचना से कहीं अधिक कडा अनुशासन मागता है। कुछ कवियो के बारे में यह सन्देह होता है कि वे, सम्भवत अक्षमता के कारण, छन्दबद्ध रचना की "डिसिप्लिन" में गुजरे विना ही, मुक्त छन्द लिखने लगे है। इस सम्बन्ध में हम हिन्दी लेखको तथा समीक्षकों के सामने एक विचारणीय मन्तव्य रखना चाहते हैं। मानव सस्कृतियो के प्रसिद्ध, अध्येता, नर-विज्ञान के प्रकाण्ड पडित, क्रोबर का कहना है कि छन्दहीन काव्य और कथानक-रहित उपन्यास सास्कृतिक अध प्रगति (डिकेडेन्स) के द्योतक होते हैं।

हमारा उद्देश्य प्रयोगशील कवियो को निरुत्साहित नहीं, सचेत करना है। राजनीतिक इतिहास में साम्प्रदायिक सगठन बल देता है, किन्तु साहित्यिक इतिहास व्यक्तित्वो को ही महत्त्व देता आया है। साधनाशील साहित्यकार अपने

तथा मानवता अथवा मानव-संस्कृति दोनों के भविष्य के सम्बन्ध में दूरदर्शी होता है; सुलभ किन्तु अल्पकालिक वाहवाही के लोभ से वह अपने को किसी संकीर्ण, साम्प्रदायिक जोश या उमंग के प्रवाह में नहीं वह जाने देता। इसे याद रख कर ही हमारे प्रयोगशील कवि उन बड़ी महत्त्वाकांक्षाओं का पोषण कर सकेंगे जो वाल्मीकि, कालिदास एवं सूर-तुलसी के देश के कलाकारों के लिए उचित और शोभन है।

: १२ :

हिन्दी-आलोचना : अगला कदम

हिंदी में आधुनिक अर्थात् योरपीय ढंग की आलोचना का आरम्भ हुए प्रायः तीन-साढ़े-तीन दशाब्द ही बीते हैं। इस छोटी अवधि में हिंदी-समीक्षकों तथा साहित्यकारों ने अनेक वादों की आजमाइश की है। हमारे लेखक ही नहीं आलोचक भी समय-समय पर रहस्यवाद तथा छायावाद, प्रगतिवाद अथवा मार्क्सवाद, प्रतीकवाद एवं प्रयोगवाद के समर्थक रहे हैं, और हैं। इन वादों के उत्थान से पूर्व के महत्त्वपूर्ण समीक्षक पंडित रामचन्द्र शुक्ल भी वाद-मुक्त न थे—वे एक प्रतिगामी सीमा तक मर्यादावादी थे। इनके अतिरिक्त राष्ट्रवाद, अभि-व्यजनावाद तथा मनोविश्लेषणवाद के नारे भी जब-तब सुनाई देते रहे हैं। हाल ही में अतिवस्तुवाद (Surrealism) तथा अस्तित्ववाद (Existentialism) की चर्चा भी छिड़ने लगी है।

कोई भी साहित्यिक वाद दो में से एक का आश्रय लेकर खड़ा होता है—एक विशिष्ट जीवन-दर्शन का अथवा एक निराली शैली का। यह विभाग स्थूल रूप में ही सही है, वास्तव में जीवन-दर्शन तथा शैली—दोनों विशेष प्रकार की अनुभूतियों का आधार लेकर ही अभिव्यक्ति पाते हैं। छायावाद और प्रगतिवाद का सम्बन्ध विशिष्ट जीवन-दर्शनों से रहा है, यही बात मर्यादावाद और राष्ट्रवाद पर भी लागू है। इसके विपरीत अतिवस्तुवाद तथा प्रयोगवाद मुख्यतः शैलियों के भेद जान पड़ते हैं। किन्तु यदि गहराई में घुसकर देखा जाय तो जान पड़ेगा कि उक्त सब वादों का सम्बन्ध अनुभूति के विशिष्ट क्षेत्रों से है।

बात यह है कि अपनी समग्रता में मानव-जीवन नितान्त विविधतापूर्ण और जटिल है। विभिन्न वाद उस जीवन के विभिन्न अंगों अथवा क्षेत्रों को ज्यादा महत्त्व देते तथा साहित्यकार से तत्सम्बन्धी अभिव्यक्ति की मांग करते हैं। इसी के फलस्वरूप प्रत्येक वाद दूसरी कोटि की अनुभूति के प्रकाशन को महत्त्व नहीं देना चाहता। उदाहरण के लिए, छायावादी कवि जीवन की

मांसल अभिव्यक्ति से कतराते थे और लौकिक प्रेमानुभूति एवं सौंदर्यानुभूति को भी अलौकिक प्रतीको में बाँधकर व्यक्त करना चाहते थे। छायावाद की स्वच्छन्द वैयक्तिकता के विरुद्ध प्रगतिवाद साहित्यकार से सामाजिक अनुभूति की माँग करता है। शुक्ल जी का आग्रह था कि लेखक जीवन की अभिव्यक्ति प्राचीन भारतीय मर्यादाओ के भीतर करें। हिंदी के प्रगतिवादी भी एक प्रकार के मर्यादावादी हैं, यद्यपि उनका मर्यादावाद मार्क्सीय भौतिकवाद तथा सामाजिक यथार्थवाद की सीमाओ में आबद्ध है। मनोविश्लेषणवाद स्पष्ट ही विशेष प्रकार के अनुभवों की अभिव्यजना को महत्त्व देता है; अतिवस्तुवाद भी उसी से सबद्ध है। प्रयोगवादी भी वास्तव में कवि से ऐसी अनुभूति का प्रकाशन माँगता है जो परम्परागत मूल्यो पर आधारित नहीं है, वह शब्दो के ऐसे प्रयोग का पक्षपाती है जिसमें उनके पुराने अनुषगों को (और ये अनुषंग सौंदर्य-असौंदर्य आदि की मूल्य-भावना से सबद्ध रहते हैं) पूर्णतया परित्यक्त कर दिया गया है।

प्रश्न है—जीवन अथवा जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में सोचने का, युग-जीवन को आँकने और उसके दिशा-निर्धारण का कार्य किसका है? पुराने जमाने में धर्म-शिक्षक तथा दार्शनिक जनता को भलाई-बुराई की शिक्षा दिया करते थे। आज धर्म-शिक्षको का महत्त्व बहुत कम हो गया है, प्राचीन धर्मो की मान्यता भी जाती रही है और दर्शन जीवन से तटस्थ होता जा रहा है। आज दर्शन की अपेक्षा विज्ञान की मान्यता वढ गई है। भौतिक जगत् के वारे में तो दर्शन का कुछ भी कहना अनधिकार चेष्टा समझी जाती है। इसके अलावा बर्ट्रांड रसेल तथा 'लॉजिकल पाजिटिविजम' का कहना है कि धर्म-अधर्म, अच्छाई-बुराई, सौंदर्य-असौंदर्य आदि मूल्य सत्त्व (Values) वैज्ञानिक चिन्तन के विषय नहीं हो सकते—वे केवल भावना के विषय है। और चूँकि भावना अवैज्ञानिक है, इसलिए जीवन-मूल्यो के सम्बन्ध में कोई निश्चित एवं सर्व-स्वीकृत सिद्धान्त नहीं दिया जा सकता। मतलव यह कि वीसवीं शताब्दी का दर्शन जीवन-दर्शन नहीं रह गया है। निष्कर्ष यह कि आज का लेखक अपनी जीवन-दृष्टि बनाने के लिए न धर्म-शिक्षको पर निर्भर कर सकता है, न दार्शनिकों पर। वस्तुत आज विचारशीलों का जीवन-दर्शन मुख्यत विभिन्न भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानो की खोजो से प्रभावित एवं निर्धारित होता है। इसके अतिरिक्त लेखक को अपनी मानवीय सवेदना का आश्रय लेना पड़ता है।

हम पूछ रहे थे—जीवन के सम्बन्ध में चिन्तन करने का अधिकार किसे है? साहित्य के क्षेत्र में यह हमारा निश्चित मत है—यह अधिकार लेखक को है, समीक्षक को नहीं। जीवन का द्रष्टा साहित्यकार होता है, न कि समीक्षक।

अपनी विशिष्ट हैसियत से समीक्षक साहित्य का पारखी है, साक्षात् जीवन का पारखी नहीं। समीक्षक की हैसियत से वह साहित्य के गुण-दोषों की परख करता है, जीवन के विभिन्न पक्षो की आलोचना उसका काम नहीं है। यदि कोई समीक्षक यह समझता है कि उसके पास मानव-जीवन एवं मानवीय सभ्यता तथा संस्कृति के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विचार हैं तो उसे उन विचारों को समाज-दर्शन अथवा समाज-विज्ञान के रूप में दुनिया के सामने पेश करना चाहिए—साहित्य-समीक्षा इस तरह के विचारो के प्रदर्शन का स्थान नहीं है। जो समीक्षक एक समाज-दार्शनिक अथवा समाज-वैज्ञानिक के रूप में प्रसिद्ध नहीं है, उसे यह अधिकार नहीं कि वह साहित्यिक समीक्षा में लेखको को जीवन-दर्शन का उपदेश दे। जब कोई समीक्षक लेखक को इस प्रकार का उपदेश देता है तब प्राय. वह किसी-न-किसी न्यूनाधिक प्रचलित जीवन-दर्शन की दुहाई देता है। किन्तु, एक स्वतन्त्र जीवन-द्रष्टा होने के नाते, साहित्यकार ऐसी किसी भी दुहाई से विचलित अथवा प्रभावित होने को बाध्य नहीं।

कहा जा सकता है कि जीवन-सम्बन्धी चिन्तन की क्षमता में समीक्षक भले ही लेखक का समकक्ष न हो, किन्तु जिन प्रसिद्ध जीवन-दर्शनो अथवा चिन्तको की वह (समीक्षक) दुहाई देता है वे अवश्य ही लेखक के समकक्ष अथवा उससे ऊँचे थे। उदाहरण के लिए एक मार्क्सवादी समीक्षक स्वय भले ही बढ़िया विचारक न हो, किन्तु जिस कार्लमार्क्स के नाम पर वह किसी लेखक या कृति को भला-बुरा कहता है, वह अवश्य ही एक बडा चिंतक था जिसकी बात लेखक को मान्य होनी चाहिए। उत्तर में हमें दो निवेदन करने हैं। प्रथमतः जीवन के जिस विशिष्ट क्षेत्र के सम्बन्ध में लेखक बातचीत करता है उसकी जानकारी उसे दार्शनिको तथा समाज-शास्त्रियों से अधिक है। दूसरे, मार्क्स-जैसे दर्जनों समकक्ष विचारको ने जीवन के बारे में परस्पर-विरोधी मतव्य प्रतिपादित किए हैं ; अतएव लेखक किसी एक के विचारो को मानने के लिए बाध्य नहीं है। कोई कारण नहीं कि लेखक अपनी स्वतन्त्र चिंतन-शक्ति से काम न लेते हुए शकर अथवा हीगल के अध्यात्मवाद एव मार्क्स अथवा रसेल के भौतिकवाद को स्वीकार करके चले। यह भी मुमकिन है कि लेखक को जीवन के एक विशिष्ट पहलू की अभिव्यक्ति में शकर एव मार्क्स—दोनो की शिक्षाएँ अप्रासगिक जान पडें। किसी भी दशा में समीक्षक को यह अहंकारपूर्ण दावा करने का अधिकार नहीं है कि जीवन और उसकी जरूरतो के बारे में वह लेखक से अधिक जानकारी रखता है।

एक उदाहरण लीजिए। गाँधी जी एक वीर पुरुष थे या नहीं, इस प्रश्न

का निर्णय कौन करेगा ? लेखक अथवा समीक्षक ? एक प्रगतिवादी समीक्षक कह सकता है कि गांधी जी की अपेक्षा लेनिन अथवा स्तालिन श्रेष्ठतर महापुरुष था, इसलिए हिंदी के कवि को स्तालिन के जीवन पर महाकाव्य लिखना चाहिए, गाधी के नहीं। स्पष्ट ही गाधी के कवि को अहिंसावाद का समर्थन करना होगा, जो मार्क्सवादी सिद्धान्तो के प्रतिकूल है। अहिंसावादी न होते हुए भी लेखक यह सोच सकता है कि महाकाव्य का नायक कोई राष्ट्रीय महापुरुष होना चाहिए। (यह दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दुस्तान की कम्यूनिस्ट पार्टी ने कोई वैसा महापुरुष उत्पन्न नहीं किया।) ऐसी दशा में कट्टर कम्यूनिस्ट लेखक किसी भारतीय महापुरुष पर कैसे काव्य लिख सकता है ? माइकेल मधुसूदन दत्त ने अपने 'मेघनाद-वध' में रावण और उसके पुत्र को सहानुभूति दी है; लेकिन वे भी एक प्रकार से भारतीय पात्र हैं। प्रश्न है—क्या एक हिन्दू आलोचक 'मेघनाद-वध' के काव्य-सौष्ठव की दाद दे सकता है ? और क्या एक कम्यूनिस्ट आलोचक गांधी के व्यक्तित्व पर लिखे हुए काव्य या नाटक का सही मूल्याकन कर सकता है ? क्या किसी समीक्षक के लिए यह निर्णय देना सभव नहीं है कि ईसाई दाते तथा हिन्दू तुलसीदास दोनो ही श्रेष्ठ कवि हैं ? और यदि समीक्षक अतीत साहित्यकारो के जीवन-दर्शनो के सम्बन्ध में उदार हो सकता है और यह सहन कर सकता है कि आज के पाठक भौतिकवादी ल्यूक्रीशियस एवं कट्टर धार्मिक दाते दोनो का अध्ययन करें, तो क्या वह आज के साहित्यिकों के सम्बन्ध में वैसी ही दृष्टि नहीं रख सकता ? क्या जरूरी है कि इस युग के सारे साहित्यकार एक ही जीवन-दर्शन के अनुयायी हो ? वस्तुतः आज के युग में जब कि भूमंडल की असख्य संस्कृतियाँ एव विचारधाराएँ हमारी चेतना के सम्मुख एक साथ उपस्थित हो गई है, किसी लेखक से एक कट्टर जीवन-दर्शन की माँग करना हठधर्मी ही नहीं, हद दर्जे की मूर्खता है।

इतनी भूमिका के बाद अब हम हिन्दी-आलोचना की ओर लौटें। हमारा ख्याल है कि पिछले तीस वर्षो की हिन्दी-आलोचना साहित्य में अभिव्यक्त जीवन-दर्शन को कुछ ज्यादा महत्त्व देती आई है। यह नहीं कि इसका कोई ऐतिहासिक कारण नहीं है; लेकिन कारण तो सही-गलत सभी घटनाओ तथा क्रियाओ का होता है। पिछले तीन दशको में मनुष्य के जीवन तथा विचारो में अनेक क्रान्तियाँ हुई है, अनेक विश्वास बने और विगडे हैं, वहुत-सी पुरानी मान्यताएँ ढह गई हैं। मानवीय जीवन तथा सस्कृति की वाहरी परिस्थितियों में भी वडे उलट-फेर हुए है। पिछले तीन-चार दशको में दो वडे महायुद्ध हुए, और विनाश के यन्त्रो में अभतपूर्व प्रगति हुई। ऐसे सकटो की स्थिति में यदि

जनता असहाय भाव से अपने लेखकों तथा कवियों से त्राण कर सकने वाले जीवन-दर्शन की माँग करे, तो आश्चर्य नहीं। यह भी स्वाभाविक है कि लेखक लोग, अपनी शक्तियों के अनुसार, इस माँग को पूरा करने का प्रयत्न करें। और, यह भी अनिवार्य है कि समीक्षकों की दृष्टि साहित्यिक कृतियों के विचार-तत्त्व की ओर आकृष्ट हो। किन्तु किसी लेखक के विचारों पर दृष्टिपात करने और उन विचारों को मूल्याकन का पैमाना बना डालने में अन्तर है। इस अन्तर को स्पष्ट करना ही प्रस्तुत लेख का प्रमुख उद्देश्य है।

छायावाद के पारखियों ने उसके काव्य-सौष्ठव का विश्लेषण करने के प्रयत्न किए; यह उचित ही था। किन्तु इसके साथ एक धाँधली भी चलती रही। रहस्यवाद के नाम पर छायावाद की अस्पष्ट, धूमिल तथा अशक्त रचनाओं की भी जी खोलकर प्रशसा की जाती रही। कवि तथा आलोचक—दोनों के हाथों में एक विशेष जीवन-दर्शन—जिसको उन दिनों रवींद्र आदि के प्रभाव के कारण मान्यता थी—छायावाद की अभिव्यक्तिगत दुर्बलताओं पर पर्दा डालने का अस्त्र बन गया। हमने कहा कि छायावाद के आलोचकों ने उक्त काव्य के गुण-दोषों का विशुद्ध कलात्मक विवेचन भी किया। किन्तु प्रगतिवादी आलोचकों ने अभिव्यक्तिगत सौष्ठव अथवा पूर्णता की एकदम ही उपेक्षा की, और बेतकल्लुफ होकर साहित्यकारों से विशिष्ट जीवन-दर्शन की माँग करने लगे। मुख्यतः प्रगतिवादियों के प्रचार से आज उपयोगी जीवन-दर्शन की माँग इतनी प्रबल हो गई है कि हम यह भूल ही गए हैं कि समीक्षक का प्रधान कार्य साहित्यकार के जीवन-दर्शन को परखना नहीं है। समीक्षक साहित्यकार के जीवन-दर्शन की बिलकुल ही उपेक्षा करे—यह आवश्यक नहीं; किन्तु किसी भी दशा में समीक्षक से उस योग्यता की अपेक्षा नहीं की जा सकती जो जीवन-दर्शन के मूल्याकन के लिए आवश्यक है। हम यह आशा नहीं कर सकते कि एक साहित्य-समीक्षक अध्यात्मवाद तथा भौतिकवाद-जैसे दुरूह दार्शनिक सिद्धान्तों एवं विवादों पर निर्णय देने की क्षमता से सम्पन्न होगा। दार्शनिक चिन्तन की गम्भीर 'डिसिप्लिन' में गए बिना जो समीक्षक ऐसा समझने लगते हैं, वे अनधिकार चेष्टा के अपराधी होते हैं। आस्तिकवाद तथा नास्तिकवाद—दोनों सिद्धान्तों का मानव-जीवन तथा मानवीय सस्कृति के लिए अलग-अलग तरह का महत्त्व है; किसी समीक्षक को यह अधिकार नहीं कि वह लेखक को इस सम्बन्ध में शिक्षा देने का यत्न करे। लेखक को यह पूर्ण अधिकार है कि वह मानवता के कल्याण के लिए उस किसी भी जीवन-दर्शन का, जिसे उसकी सवेदना तथा बुद्धि स्वीकार करती है, प्रचार या सकेत करे। हमारा यह मन्तव्य जनतन्त्र के अनुकूल तो है

ही, विश्व के सनीषियो की उस सघर्ष-परम्परा के भी अनुकूल है, जो लगातार विचार-स्वातन्त्र्य की उपलब्धि के लिए अनुष्ठित होती रही है ।

संसार के समस्त जीवन-दर्शनो के ऊपर है—मानव-जीवन का सत्य । अपने ढंग से साहित्यकार भी जीवन-विषयक सत्य को प्रकट करने का प्रयत्न करता है । इस सत्य को स्वीकृत दर्शनो द्वारा सीमित करने की छूट नहीं दी जा सकती । यदि ऐसी छूट दी गई होती तो संसार न चार्वाक तथा कार्लमार्क्स के विचारों को सुन पाता, न डार्विन तथा आइस्टाइन के । विचार-क्षेत्र में सब से बडा प्रतिक्रियावादी वह है जो स्वीकृत सत्यो से भिन्न नई सचाइयो के उद्घाटन की आवश्यकता स्वीकार नहीं करता ।

प्रश्न है, किसी साहित्यिक कृति में समीक्षक को मुख्यत क्या देखने का प्रयत्न करना चाहिए ? उत्तर है—समीक्षक को मुख्यत. दो चीजें देखनी चाहिएँ। एक यह कि किसी कलाकृति में कहाँ तक अनुभूति की सचाई है, उसमें निबद्ध अनुभूति कहाँ तक ग्राह्य अथवा सवेद्य है; जिस अनुभूति को साहित्यकार ने उपस्थित किया है वह किस हद तक सजीव जीवन-स्पदन का रूप ले सकी है । दूसरे, समीक्षक को देखना चाहिए कि अभिव्यक्त अनुभूति का स्तर या धरातल क्या है; वह प्रौढ़ता अथवा परिपक्वता की किस भूमिका तक पहुँच सकी है । इनके साथ ही समीक्षक को यह देखना होगा कि अभिव्यक्त अनुभूति कहाँ तक कलाकार की अपनी निराली सवेदना का प्रतिफलन है; दूसरे शब्दो में, वह अनुभूति कहाँ तक दूसरे युगों अथवा विचारको की परम्परायुक्त अनुभूति न होकर लेखक की स्वयं अपनी अनुभूति है ।

खास तौर से आज के हिन्दी-समीक्षक को अनुभूति अथवा कृतित्व के धरातल को परखने की योग्यता सम्पादित करनी है ।

इस वक्तव्य को पल्लवित करने की जरूरत है । किसी भी युग में नए साहित्य की जरूरत इसलिए पडती है कि उस युग के जीवन की सम्भावनाएँ विगत युगों की जीवन-सम्भावनाओ से भिन्न अथवा नई होती हैं । साहित्य को हम या तो जीवन का चित्रण कह सकते हैं या जीवन की (रागात्मक) सम्भावनाओ का उद्घाटन । जीवन का यथार्थ-मूलक चित्रण फोटोग्राफी के अर्थ में सम्भव नहीं है । जीवन की असख्य छवियो से चयन करते हुए कलाकार उसकी न्यूनाधिक यथार्थ संभावनाओ की ही विवृति या सृष्टि कर सकता है । क्योंकि जीवन के तत्त्वों का अन्वेषण एक अखण्ड ऐतिहासिक परम्परा है, इसलिए नए युग की अनुभूति विगत युगो की निषेधक न होकर उनकी जीवनानुभूति में वृद्धि करने वाली होती है । अतएव नए लेखक की समस्या होती है—वर्तमान अथवा

निकट अतीत के एक विशेष विन्दु तक सचय किए हुए मानवता के ज्ञान एवं अनुभव की नई सम्भावनाओ का निर्देश करना। परिपक्व मस्तिष्क का लेखक वह है जो ऐतिहासिक, अर्थात् समग्र इतिहास में बिखरी हुई, मानव-चेतना के अधिक सार्थक रूपो से सुपरिचित है, और उस परिचय के आलोक में जीवन की नई दिशाओ का सकेत करने में प्रयत्नशील है।

'उक्त कथन को हम उदाहरण देकर स्पष्ट करें। जीवन की एक नई सम्भावना के निर्देश को दो तरह से समझा जा सकता है। प्रथमत इस सम्भावना का अर्थ है जीवन तथा जगत् के अन्वेषित यथार्थ से एक नया सम्बन्ध; दूसरा अर्थ है, उस यथार्थ के प्रति एक विशेष रुख या मनोभाव। जिन्हे हम अध्यात्मवादी या भौतिकवादी दर्शन कहते है, वे उल्लिखित यथार्थ के प्रति विशिष्ट रुखों का प्रतिपादन करते है। एक विचारशील व्यक्ति में ये मनोभाव यथार्थ जगत् की विशिष्ट चेतना से निर्धारित और निरूपित होते है। उच्च कोटि का लेखक यथार्थ-सम्बन्धी चेतना और उसके प्रति भावनात्मक दृष्टि अथवा रागात्मक मनोभाव (Emotional Attitude), दोनो का ही प्रकाशन करता है।

इसका मतलब यह है कि यदि कोई लेखक अपने पाठक में भौतिकवादी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा करना चाहता है तो उसे उस समग्र बोध-चेतना का सकेत करना पड़ेगा जो आज के विचारशील व्यक्ति को भौतिकवादी दर्शन की ओर आकृष्ट करती है। यही वात अध्यात्मवादी अथवा ईश्वरवादी जीवन-दृष्टि के रागात्मक प्रतिपादन पर लागू होगी।

आज यदि कोई ईश्वरवादी लेखक हमारे सामने भावुक भाषा में केवल उन तथ्यो को रखे जिनके आधार पर पुराने लोग आस्तिक बन जाते थे, अथवा कोई दार्शनिक केवल उन्हीं तर्कों को दुहरा दे जो उदयनाचार्य ने अपनी 'कुसुमाजलि' में उपस्थित किए थे, तो वह न तो हमारे विशिष्ट युग का विचारक ही होगा, न एक प्रौढ अथवा परिपक्व मस्तिष्क का लेखक ही माना जा सकेगा। प्रौढ़ एव परिपक्व बुद्धि का लेखक वही है जो किसी प्रश्न से सम्बद्ध मानव-जाति की आज तक की अशेष शकाओ तथा सदेहो के नीच गुजर चुका है।

सम्भव है कि जीवन के भावनात्मक दृष्टिकोण सख्या में सीमित है—जैसे आशावाद और निराशावाद, सदेहवाद और आस्थावाद, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद, इहलोकवाद तथा परलोकवाद; किन्तु वह यथार्थ जिसकी चेतना में इन मनोभावो का उदय होता है, स्वय मनुष्य की अन्वेषण-क्रिया से लगातार बदलता रहता है। विभिन्न विज्ञानो के सतत अन्वेषणो के द्वारा ज्ञात विश्व

का मानचित्र लगातार बदलता जा रहा है। इस बदलते मानचित्र की चेतना को देते हुए ही कलाकार हममें विभिन्न रागात्मक दृष्टियों या मनोभावो को उत्पन्न करता है। अत. किसी भी साहित्यिक कृति की परीक्षा करते हुए हमें यह देखना चाहिए कि उसके लेखक ने अपने पाठकों में जिस रागात्मक मनोवृत्ति को उत्पन्न करना चाहा है, उसकी पुष्टि में वह कितनी समृद्ध यार्थानुभूति अथवा बोध-चेतना का उपयोग कर सका है।

संक्षेप में, किसी कलाकृति के धरातल की जाँच करने के लिए यह देखना उतना महत्त्वपूर्ण नही है कि लेखक भौतिकवादी है या अध्यात्मवादी, वह संशयवादी है या आस्थावादी; महत्त्वपूर्ण बात यह देखना है कि वह अपनी विशिष्ट जीवन-दृष्टि को कितनी सूक्ष्म, गहरी तथा आधुनिक यथार्थ-चेतना से संबद्ध करके व्यक्त कर सका है। शास्त्रीय भाषा में, समीक्षक को यह देखना चाहिए कि, मानवता के आज तक उपलब्ध ज्ञान-विज्ञान के आलोक में, किसी लेखक या कृति का विभावपक्ष कितना समृद्ध है।*

अन्वेषित यथार्थ से सबद्ध चेतनाओ की समानता के कारण एक आधुनिक भौतिकवादी, बीसवीं सदी के एक अध्यात्मवादी की बातचीत में जितना रस ले सकेगा उतना एक चार्वाक-युगीन भौतिकवादी की बातचीत में नहीं। दार्शनिक समझदारी की दृष्टि से यह भेद उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि एक व्यक्ति भौतिकवादी है और दूसरा अध्यात्मवादी, जितना कि वह जो एक आधुनिक परीक्षक की यथार्थचेतना और एक दो हजार वर्ष पूर्व के तत्त्व-चिंतक की यथार्थ-चेतना में है।

हिन्दी-समीक्षा अभी तक प्रौढ़ि अथवा परिपक्वता (Maturity) की इस धारणा से न तो परिचित ही है और न उसका उपयोग ही कर सकी है। छायावादी कवि किस जीवन-दर्शन को मानते थे, यह एक बात है; वे उस दर्शन को कितनी सूक्ष्म एवं विस्तृत यथार्थ-चेतना अथवा बोध-दृष्टि से सबद्ध करके प्रकाशित कर सके है, यह दूसरा और ज्यादा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। 'कामायनी' से हमारी यह शिकायत नहीं है कि उसमें श्रद्धा और बुद्धि के द्वद्व को दिखाते हुए श्रद्धा को श्रेष्ठतर घोषित किया है—यदि एक समीक्षक स्वय बुद्धिवादी है तो भी उसे यह शिकायत करने का अधिकार नहीं है। हमारी शिकायत दूसरी है—यह कि उक्त काव्य में श्रद्धा और बुद्धि के सघर्ष को अपने युग के विकसित धरातल पर चित्रित नहीं किया गया है। उसमें न तो

विभाव-पक्ष की सम्बद्धता मे समीक्षक लेखक की जीवन-दृष्टि का विश्लेषण और उसकी प्रौढता का मूल्यांकन कर सकता है—उसे करना चाहिए।

बुद्धि-पक्ष का ही ऐसा प्रतिपादन है जिसमें मानव-बुद्धि के महत्त्व का सशक्त प्रतिफलन हो—जो बुद्धिवादियो की भावनाओ का पूर्ण प्रतिनिधित्व कर सके—और न श्रद्धा के पक्ष का ही ऐसा गम्भीर समर्थन है जो युग की सन्देहवादी बौद्धिकता को हिला भी सके। जान पड़ता है, 'कामायनी' काव्य साधारण कोटि के पाठको के लिए लिखा गया है, उन विचारशी जिज्ञासुओ के लिए नहीं, जो सुचिंतित जीवन-दर्शन की खोज में विश्व के अशेष ज्ञान-विज्ञान का मथन कर डालते हैं। सच पूछिए तो 'कामायनी' में तेजस्वी चिंतन का गम्भीर आलोड़न कहीं प्रतिफलित ही नहीं हो सका है।

उच्चतम कोटि के धरातल पर लिखे हुए महाकाव्य अथवा उपन्यास से दूसरे क्षेत्रो के श्रेष्ठतम विचारको को कुछ सीख सकना चाहिए। किसी भी युग का उच्चकोटि का कलाकार बौद्धिक अर्थात् चिंतन के धरातल पर अपने समय के ऊँचे-से-ऊंचे विचारको का समकक्ष होता है। उदाहरण के लिए, बौद्धिक परिपक्वता में टी० एस० इलियट अपने क्षेत्र में उतनी ही ऊँची कोटि का विचारक है जितनी बर्ट्रांड रसेल तथा आइन्स्टाइन अपने क्षेत्रो में। अपने देश के रवीन्द्रनाथ भी इसी कोटि के विचारशील लेखक थे। इस दृष्टि से खड़ी बोली के अब तक के किसी भी लेखक का नाम उक्त प्रतिभाओ के साथ नहीं लिया जा सकेगा।

अब हम साहित्यिक प्रौढ़ता के स्वरूप का सक्षिप्त निर्देश करने का प्रयत्न करेंगे।

किसी साहित्यिक कृति में एक श्रेणी की प्रौढ़ता तब उत्पन्न होती है जब उसमें निबद्ध अनुभूति अखडित रूप में यथार्थ जान पडती है। इस कोटि के साहित्य में नियोजित कल्पना पूर्णतया यथार्थ कल्पना होती है; वहाँ यथार्थ के सघन चित्रों के बीच घटिया कल्पना के पेबद नहीं रहते। प्रेमचन्द के 'गोदान' में किसान-जीवन का चित्रण इस दृष्टि से प्रौढ बन सका है, किन्तु उसी उपन्यास में दार्शनिक मेहता तथा दूसरे वर्गो का चित्रण उतने सघन रूप में यथार्थ नहीं है। इसके विपरीत गोर्की का 'मा' उपन्यास शुरू से अन्त तक यथार्थ की सघन प्रतीति का वाहक है। इसलिए, शायद, गोदान की तुलना में 'मा' उपन्यास श्रेष्ठतर है। 'शायद' इसलिए कि प्रेमचन्द ने किसानों की परम्परागत सस्कृति का भी सूक्ष्म अकन किया है, उसका यह अंकन अमेरिकी लेखिका पर्ल बक के 'द गुड अर्थ' से अधिक बहुमुखी है। इसी प्रकार शरच्चन्द्र के उपन्यासो में मध्यवर्ग के जीवन के सघन यथार्थ-मूलक चित्र पाये जाते हैं।

यथार्थ मनोवैज्ञानिक भी होता है और सामाजिक भी; विच्छिन्न न होते हुए भी ये दोनो कोटियाँ विविक्त या अलग की जा सकती है। कुछ लेखक मानवीय कर्मो के गहरे मनोवैज्ञानिक स्रोतों का सशक्त परिचय देने की क्षमता रखते है, जैसे दास्ताएव्स्की; दूसरे लेखक कर्म की सामाजिक प्रेरणाओं का जटिल चित्रण कर सकते हैं, जैसे टॉलसटाय। ये दोनो ही लेखक उक्त तीनों लेखको से बडे है।

प्रेमचन्द ने भारतीय किसानो तथा समाज का चित्रण मुख्यत वर्तमान के दायरे में किया है; सास्कृतिक परम्परा को वहीं तक लिया है जहां तक वह वर्तमान को प्रभावित कर रही है। उनकी दृष्टि में अच्छाई-बुराई के पैमाने पूर्णतया निश्चित है। अनेक सास्कृतिक परम्पराओ की, और उनसे उत्पन्न विचारात्मक सघर्ष की, गहरी ऐतिहासिक चेतना प्रेमचन्द में नहीं है। इसके विपरीत 'शेष प्रश्न' तथा 'पथ के दावेदार' का लेखक एक से अधिक परम्पराओ अथवा जीवन-दृष्टियो के सघर्ष को देखने-चित्रित करने की क्षमता रखता है। इस दृष्टि से शरच्चन्द्र प्रेमचन्द से बड़े कलाकार है। और इसी दृष्टि से 'वार एड पीस' का लेखक टॉलसटाय शरच्चन्द्र से महत्तर कलाकार है। टॉल्सटॉय की यथार्थ, विषयक दृष्टि भी उक्त भारतीय लेखको से अधिक सघन और समृद्ध है। दास्ताएव्स्की की विशेषता इसमें है कि वह मानव-चेतना की गहराइयो की विवृति करते हुए हमारे सामने मनष्य की नैतिक-धार्मिक अनुभूति से सम्बद्ध क्रातिकारी प्रश्न उपस्थित कर देता है।

संक्षेप में, बहुत बड़े लेखक हमारे सामने केवल एक विशेष देश-काल के मनुष्य का नहीं, अपितु लम्बे इतिहास वाले मनुष्य का समस्या-जटिल जीवन उपस्थित कर देते है। महान् लेखक कभी-कभी ऐसे सकेत भी दे देते है जिनसे हम मनुष्य को भूमण्डल के समाजो की ही नहीं, अपितु अखिल ब्रह्माड की पृष्ठभूमि में देख सकें।

यहां संक्षेप में हम एक प्रश्न का विचार और करेंगे—साहित्य की उपयोगिता का। मनुष्य का कोई भी प्रयत्न एक साधारण, छिछले अर्थ में उपयोगी हो सकता है और एक बडे, गम्भीर अर्थ में भी। अपेक्षाकृत कम पढ़े-लिखे लोगों की सुविधा की दृष्टि से राधेश्याम कथावाचक की रामायण तुलसी के 'मानस' से अधिक उपयोगी सिद्ध की जा सकती है। किन्तु किसी साहित्यिक कृति की उपयोगिता का अन्तिम मानदण्ड यह है कि वह कृति यथार्थ के विस्तार और गहराइयो से हमारा कितना सघन परिचय कराती तथा हमारे चेतना-मूलक एव सृजनशील जीवन को कितना समृद्ध करती है।

पूछा जा सकता है—यदि समीक्षक में विशिष्ट जीवन-दर्शन का आग्रह नहीं होगा तो वह व्यवसायी दृष्टि से लिखे गए अश्लील साहित्य एवं स्वस्थ साहित्य में किस प्रकार अन्तर करेगा। उत्तर में निवेदन है—तथाकथित अस्वस्थ साहित्य कभी समृद्ध जीवन-दृष्टि में जन्म नहीं ले सकता, और न वह पाठकों को वैसी जीवन-दृष्टि दे ही सकता है। इसलिए, अनुभूति के धरातल के पैमाने से ही, ऐसे साहित्य को निकृष्ट सिद्ध किया जा सकता है। हमें कहना है कि इस दृष्टि से डी० एच० लारेंस जैसे अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न लेखकों की कृतियाँ न निकृष्ट ही कही जा सकती हैं, न अश्लील। अवश्य ही लारेंस टॉल्स्टॉय जैसे कलाकारों की कोटि का लेखक नहीं है। टॉल्स्टॉय के 'वार एण्ड पीस' की प्रशंसा में एक लेखक ने लिखा है—

The reality of War and Peace is of three kinds reality of character creation, reality of background, reality of moral law.

अर्थात् 'युद्ध और शांति' उपन्यास की यथार्थानुकारिता अथवा सचाई तीन प्रकार की है—चरित्र-सृष्टि की यथार्थता, पृष्ठिभूमि की यथार्थता और नैतिक सत्य की यथार्थता। हमारी कामना है कि उगती हुई तथा आगे आने वाली पीढ़ियों के हिन्दीपाठक और समीक्षक अपने लेखकों से इस प्रकार की वास्तविकता या सचाई की माँग करना सीखें, और प्रौढ़ता की विभिन्न कोटियों के समुचित मूल्यांकन की योग्यता सम्पादित करें।

: १३ :

आलोचना-सम्बन्धी मेरी मान्यताएँ

जीवन की रागात्मक सभावनाओ के उद्घाटन या चित्रण को साहित्य कहते हैं, तथा साहित्य के विश्लेषण एव मूल्याकन को आलोचना। एक दृष्टि से आलोचना साहित्य-सृष्टि की सहकारी क्रिया है, किन्तु दूसरी दृष्टि से उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। इन सक्षिप्त वक्तव्यो को पल्लवित करने की आवश्यकता है। हमने साहित्य को जीवन का नहीं, जीवन की सम्भावनाओ का उद्घाटन या चित्रण कहा है। यदि साहित्य जीवन की फोटोग्राफी मात्र होता तो शायद उसे आँकने के लिए समीक्षको की जरूरत न होती। उस स्थिति में कोई भी व्यक्ति जीवन और साहित्य की एक-दूसरे से तुलना करके यह निर्णय दे देता कि विशिष्ट साहित्य सच्चा एवं श्रेष्ठ है या नहीं। क्योकि साहित्य वैसा नहीं है, इसलिए समीक्षक के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि विशिष्ट साहित्यिक कृति कहाँ तक जीवन्त एवं यथार्थ बन सकती है।

हमने कहा कि समीक्षक के मुख्य कार्य दो हैं, आलोच्य-साहित्य का विश्लेषण और उसका मूल्यांकन। समीक्षक की इन क्रियाओ को ठीक से समझने के लिए हमें साहित्य के स्वरूप पर कुछ और गहरी दृष्टि डालनी पडेगी। आज के युग में यह कहना एक साधारण बात है कि साहित्य की विषय-वस्तु एवं शैली बदलती रहती है। इस बदलने का कारण हमारी दी हुई परिभाषा में निहित है। प्रत्येक युग का जीवन विगत युगो से न्यूनाधिक भिन्न होता है। बदले हुए युग में, बदली हुई परिस्थितियो एवं वातावरण में, जीवन की सम्भावनायें भी बदल जाती हैं, इसलिए उन सम्भावनाओ का उद्घाटक साहित्य भी नया रूप धारण कर लेता है। एक जागरुक एव प्राणवान् साहित्यकार प्राचीन साहित्य स्रष्टाओ की आवृत्ति नहीं करता, वह पाठको के समक्ष नई रागबोधात्मक सम्भावनाओ का प्रत्यक्षीकरण करके उनकी जीवन-सवेदना को विस्तृत एवं समृद्ध बनाता है।

आॅल इण्डिया रेडियो, लखनऊ के सौजन्य से

बदली हुई जीवन-सभावनाओ के आलोक में वह जीवन सम्बन्धी नई दृष्टि अथवा नए मूल्यो को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है। इसप्रकार का प्रयत्न बड़े लेखको में ही उल्लेखनीय बन पाता है।

अब हम समीक्षक के कार्य को गम्भीरता से समझने की कोशिश करेंगे। किसी व्यक्ति अथवा जाति के जीवन की सफलता प्राय इस पर निर्भर करती है कि वह जीवन सचेत अर्थात् चेतनासम्पन्न हो। चेतना या ज्ञान स्वतन्त्रता का उपकरण है। अपने परिवेश को हम जिस अनुपात में जानते हैं, उसी अनुपात में उस पर नियत्रण कर सकते हैं। परिस्थितियो को अपने अनुकूल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हम उनकी उचित जानकारी प्राप्त करें। जड प्रकृति के नियमो से परिचित होकर वैज्ञानिको ने हमारी चमत्कारपूर्ण सभ्यता को सम्भव बनाया है। विज्ञान की साधना, जड प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया, कठिन परिश्रम, मनोयोग एव ऊँची प्रतिभा की अपेक्षा करती है। युग-जीवन की चेतना, एवं उस जीवन के जटिल सम्बन्ध-सूत्रो तथा सभावनाओ का उद्घाटन भी, प्रतिभा एव साधना द्वारा ही साध्य है। कहने का मतलब यह है कि साहित्यकार जीवन की जिन जटिलताओं का रागबोधात्मक परिचय देना चाहता है। उनका परिज्ञान या बोध महत्वपूर्ण तो है ही, कठिन भी है। श्रेष्ठ साहित्य में निहित जीवन-सम्बन्धी संकेतो को साधारण पाठक सरलता से ग्रहण नहीं कर सकते। इसलिए उन्हें आलोचक के विश्लेषण-रूप सहारे की आवश्यकता होती है।

सच यह है कि समीक्षक की दो क्रियाओं—विश्लेषण तथा मूल्याकन—को अलग नहीं किया जा सकता। अपने विश्लेषण द्वारा समीक्षक दो बातें पाठको के सामने लाता है—आलोच्य लेखक ने क्या कहना चाहा है, और वह उसे कितने प्रभावपूर्ण ढंग से कह सका है। यह दोनो ही बातें बताते हुए आलोचक मूल्याकन करता चलता है। वह बतलाता है कि लेखक ने जो कहना चाहा है वह कितना महत्त्वपूर्ण तथा जटिल है— जीवन तथा युग की दृष्टि से कितनी सार्थकता रखता है, और दूसरे यह कि वह अपनी बात को कितने प्रभावशाली रूप में व्यक्त कर सकता है। अनुभूति के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए समीक्षक उसका सम्बन्ध जीवन की गहराइयों तथा युग की जटिलताओं से जोड़ता है।[1] आलोचक होने के नाते समीक्षक में यह क्षमता अपेक्षित नहीं है कि वह

---

[1]इस क्रिया को हम विशेषण से भिन्न व्याख्या Interpretation भी कह सकते हैं।

साहित्यकार की भाति जीवन की जटिलताओ को स्वय देख सके, किन्तु उसमें इतनी योग्यता अवश्य होनी चाहिए कि वह लेखक की दृष्टि या सूझ की दाद दे सके। वस्तुत. लेखक और समीक्षक में मुख्य अन्तर यह होता है कि जहा द्वितीय में युग-जीवन की धुंधली चेतना होती है वहा प्रथम में चेतना अधिक स्पष्ट तथा मूर्त रूप लेती रहती है। जीवन तथा युग की सम्वेदना दोनों के लिए आवश्यक है; अन्तर उस सम्वेदना की स्पष्टता तथा तीव्रता में होता है। समीक्षक की अपेक्षा कलाकार की युग तथा जीवन-सम्बन्धी अनुभूति अधिक तीव्र एवं सशक्त होती है। बहुत हद तक समीक्षक लेखक का समानधर्मा होता है। वस्तुतः लेखक और समीक्षक उतने भिन्न नहीं होते जितना कि समझा जाता है। ससार के कुछ बहुत बड़े लेखक बहुत बड़े समीक्षक-विचारक भी हुए हैं, जैसे महाकवि गेटे, विख्यात उपन्यासकार टालस्टाय, तथा प्रसिद्ध कवि टी. एस. इलियट। अंग्रेजी साहित्य के तो अधिकांश परिचित लेखक तथा कवि अच्छे समीक्षक विचारक थे, और हैं। इस सम्बन्ध में ड्राइडन, पोप, शेली, वर्ड्सवर्थ, मेथ्यू-आर्नल्ड, वर्जीनिया वुल्फ, इजरापाउण्ड, हर्बर्ट रीड आदि के नाम लिए जा सकते हैं। फ्रास का आन्द्रे जीद तथा जर्मनी का टामस मान भी इसी कोटि में आते हैं। पिछले दोनो लेखक बड़े उपन्यासकार हैं। हिन्दी लेखकों में महादेवी वर्मा, सुमित्रानन्दन पन्त, जैनेन्द्र, स० ही० वात्स्यायन तथा दिनकर ने साहित्य के सम्बन्ध में जहाँ-तहाँ चिन्तन किया है। साहित्य का बहुत बड़ा विचारक होने के लिए लेखक में एक चीज जरूरी है—स्वयं अपने साहित्य के प्रति तटस्थ दृष्टि। अधिकाश कलाकार एकांगी होते हैं, वे यदि अपने साहित्य की रोशनी में चिन्तन करने लगें तो उनका चिन्तन भी एकागी हो जाता है। बड़े कलाकारो के साथ यह खतरा नहीं रहता। यही कारण है कि गेटे की तुलना में शेली तथा वर्ड्सवर्थ साहित्य के एकागी तथा घटिया विचारक हैं। यह कमी टी० एस० इलियट में नहीं है।

समीक्षक बतलाता है कि लेखक की रचना में कहाँ-कहाँ युग-जीवन तथा की उन शक्तियो के, जो युग जीवन को प्रभावित करती हैं, सकेत हैं, लेखक का युग-जीवन की जटिलता, विस्तार और गहराई से कितना परिचय है, और वह उस जीवन की समग्रता को कहा तक सम्बद्ध रूप में प्रतिफलित कर सका है। यदि लेखक ने जीवन के किसी एक पहलू को सशक्त अभिव्यक्ति दी है, अथवा युग-जीवन की किसी एक महत्त्वपूर्ण समस्या पर प्रकाश डाला है, तो उसका सकेत भी समीक्षक को करना चाहिए। यह जरूरी नहीं है कि प्रत्येक लेखक विचारक ही हो और जीवन की किसी समस्या का समाधान देने का प्रयत्न

आवश्यक रूप में करे। विश्व में ऐसे अनेक महान् कलाकार हुए है जिन्होने कोई नया-निराला जीवन-दर्शन न देकर जीवन की विशालता को अभिव्यक्ति ही दी है। शेक्सपीयर ऐसा ही महान् लेखक है। कालिदास ने स्वीकृत भारतीय दर्शन तथा संस्कृति की परिधि में ही जीवन को वाणीबद्ध किया है। यही बात सूर तथा तुलसी के सम्बन्ध में कही जा सकती है। ये लेखक या कवि अपने देश की विचारधाराओ से परिचित है, पर वे जीवन के विचारक नहीं है। उनके द्वारा चित्रित पात्रो के जीवन में जब कोई प्रश्न उठता है तो वे उसका समाधान स्वीकृत जीवन-दर्शनों के दायरे में कर देते है। यही बात इसाई कवि दान्ते पर लागू है।

इसके विपरीत संघर्ष तथा संक्रान्तिकाल के उस लेखक को जो जीवन के प्रश्नो का उत्तर देना चाहता है स्वय विचारक बनना पड़ता है। यह भी सत्य है कि किसी जीवन-दर्शन का सहारा लिए बिना कोई भी लेखक जीवन की समग्रता का आँकलन और अभिव्यक्ति नहीं कर सकता। जीवन के किसी एक पक्ष को सशक्त अभिव्यक्ति देने के लिए भी किसी-न-किसी प्रकार की जीवन सम्बन्धी दृष्टि अथवा आस्था-भावना अपेक्षित है। प्रश्न यह है—साहित्यकार की इस दृष्टि या भावना के प्रति समीक्षक का क्या रुख होना चाहिए ? विशेषत', सक्रान्तिकाल के समीक्षक का इस सम्बन्ध में क्या मनोभाव होना चाहिए ? कहा तक उसे अपना मूल्याकन लेखक के जीवन-दर्शन से प्रभावित होने देना चाहिए ?

ऊपर के प्रश्न का उत्तर देने से पहले हमें एक बात और देख लेनी होगी। व्यक्ति तथा समाज के सुख दु ख, कल्याण-अकल्याण आदि के सम्बन्ध में प्रत्येक युग तथा सस्कृति में कुछ मान्यताएँ प्रचलित होती है। इन मान्यताओ में कुछ का सम्बन्ध तो पुरानी रूढ़ियों से होता है, और कुछ उन रुढियो के विरुद्ध विद्रोह-भावना की पोषक होती है। बडे लेखक प्रायः रूढियो के पोषक नहीं होते, प्राय. वे रूढियों का विरोध करते है। ऐसी दशा में उनकी जीवन-दृष्टि रूढिवादी आलोचकों को ग्राह्य नहीं होती। बहुत बड़े लेखक कभी-कभी प्रचलित विद्रोह मूलक मान्यताओ को भी स्वीकार नहीं कर पाते। पुरानी रूढियो की भाँति वे नई रूढियो की एकागिता का भी भडा फोड करने लगते है। ऐसी में छिछली मनोवृत्ति के तथाकथित प्रगतिशील समीक्षक भी लेखक के विरुद्ध हो जाते है। स्थिति यह है कि किसी भी मतवाद का समर्थक आलोचक लेखक को स्वय विचार करने की स्वतन्त्रता नहीं देना चाहता। आधुनिक युग में यह स्थिति और भी पेचीदा बन गई है। आज आलोचक लोग राजनैतिक मतवादों

से भी प्रभावित होने लगे हैं। ऐसे समीक्षक लेखक से सीधे यह मांग करते हैं कि वह किसी खास राजनैतिक सिद्धान्त या पार्टी का समर्थन करे। इस कोटि के आलोचक विशुद्ध राजनैतिक कारणों से विभिन्न लेखको की निन्दा-स्तुति करते हैं। हमारी समझ में इसप्रकार की निन्दा-स्तुति एवं समीक्षा वाञ्छनीय नहीं है। समीक्षक लेखक से केवल एक माग कर सकता है—यह कि वह उन कल्याणकारी प्रवृत्तियों का विरोध तथा अकल्याणकारी प्रवृत्तियो का समर्थन न करे जिनके सम्बन्ध में विश्व के अधिकांश श्रेष्ठ विचारको का निश्चित मतैक्य है। उदाहरण के लिए आज की दुनिया में जनतन्त्र तथा समाजवाद के कतिपय सूत्र अधिकांश मानव-हितैषियो द्वारा स्वीकार किये जाते हैं; अतः समीक्षक को यह अधिकार हो सकता है कि वह इनका विरोध करने वाले लेखकों की निन्दा करे। किन्तु उस दशा में भी ईमानदार समीक्षक को यह उचित नहीं होगा कि वह आलोच्य लेखक की शक्ति एव प्रतिभा की दाद न दे।

सर्व-स्वीकृत मान्यताओ के विरोध के अतिरिक्त यदि साहित्यकार जीवन तथा सभ्यता के सम्बन्ध में अपनी सुचिन्तित दृष्टि सामने रखे तो समीक्षक को उसके आधार पर लेखक की निन्दा स्तुति नहीं करनी चाहिए। इसका यह मतलब नहीं कि समीक्षक लेखक के जीवन-दर्शन के प्रति उदासीन हो। इस सम्बन्ध में समीक्षक के देखने की खास चीज यह है कि आलोच्य-लेखक अपनी जीवन-दृष्टि को कितनी गहराई एवं कलात्मक सचाई के साथ प्रकट कर सका है—उसकी जीवन-दृष्टि जीवन-सम्बन्धी यथार्थ के कितने गम्भीर परिचय पर आधारित है। अन्तत' कला-सृष्टि के मूल्यांकन का पैमाना यह है—उस सृष्टि में जीवन के मर्म-प्रसंगो एवं उसकी जटिल गुत्थियो की कितनी चेतना मूर्तिमती हो सकी है।

संक्षेप में, हमारी आलोचनात्मक दृष्टि के यही मूलतत्व हैं। आलोचक को कृति-विशेष में निबद्ध अनुभूति का विश्लेषण करना चाहिए। यह विश्लेषण आलोचना का ऐतिहासिक एव समाजशास्त्रीय पक्ष है। इसप्रकार का विश्लेषण करने के लिये यह जरूरी है कि आलोचक को अपने युग की जीवन-स्थितियो, विचारधाराओ एवं समस्याओ की न्यूनाधिक चेतना हो। दूसरे, आलोचक को यह बता सकना चाहिए कि अभिव्यक्त अनुभूति कितनी प्राणवान् हो सकी है। इस दृष्टि से हम आलोचना को रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या कह सकते हैं। अपने विश्लेषण द्वारा समीक्षक पाठक में उन तत्त्वों की चेतना जगाता है जो आलोच्य कृति को रसमय अथवा नीरस बनाते हैं। तीसरे, समीक्षक में इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह किसी लेखक अथवा रचना के समूचे कृतित्व का

माप या मूल्यांकन कर सके—यह बतला सके कि विशिष्ट लेखक या कृति का धरातल क्या है, उसमें कितनी प्रौढ़ता है और उसकी गणना विश्वसाहित्य के किन लेखकों अथवा कृतियो के साथ होनी चाहिए। जहां समाजशास्त्रीय विश्लेषण यह अपेक्षा रखता है कि समीक्षक का अपने युग के जीवन तथा विचारों से परिचय हो, वहाँ कृतित्व के नाप-जोख के लिये यह आवश्यक है कि समीक्षक का विश्वसाहित्य के श्रेष्ठ कलाकारों एवं कृतियों से गहरा परिचय हो। स्पष्ट ही इसप्रकार का आदर्श समीक्षक बनना साधारण प्रतिभा एवं साधना वाले लेखको के लिये साध्य नहीं है।

: १४ :

एक भूमिका*

आलोचकों के सम्बन्ध में लिखित निवन्धो के किसी संग्रह की भूमिका लिखना—मान्य आलोचको के बारे में टिप्पणी करना—खतरे से खाली नही, विशेषत. एक ऐसे लेखक के लिये जो सृजनात्मक साहित्य में भी दखल रखता हो। दूसरी कठिनाइयां भी हैं, इन निवन्धों की भूमिका में मुख्यतः आलोच्य समीक्षको के बारे में लिखा जाय, अथवा आलोचक लेखकों के ? भूमिकाकार आलोच्य समीक्षको का नये सिरे से मूल्यांकन करें, अथवा प्रस्तुत मूल्यांकनो का ही महत्व आंकें ? वह एक ऐसे मानदण्ड को पाने की कोशिश करें जिससे विभिन्न समीक्षको को जांचा जा सके, अथवा उन पैमानों की परीक्षा करे जिनका सगृहीत निबन्धो में, जाने या अनजाने प्रयोग किया गया है ?

साहित्य का उद्देश्य क्या है, एवं साहित्य-समीक्षा का उद्देश्य क्या है, ये बडे प्रश्न हैं, और किसी भी बड़े प्रश्न का उत्तर एक व्यापक जीवन-दर्शन के सदर्भ की शरण लिये बिना नहीं दिया जा सकता। साहित्य-सृष्टि और साहित्य-समीक्षा दोनो सांस्कृतिक प्रयत्न हैं; उनके स्वरूप एवं उपयोगिता की व्याख्या करने के लिये यह जरूरी है कि स्वयं संस्कृति एव जीवन के स्वरूप अथवा उपयोगिता के सम्बन्ध में हमारी कोई सुचिन्तित धारणा हो। स्पष्ट ही इस भूमिका में प्रस्तुत लेखक की वैसी धारणाओं का विशद विवेचन नहीं किया जा सकता; फलतः वह अपने समीक्षा-सम्बन्धी विचारो को भी अधूरे रूप में ही प्रकट कर सकता है।

साहित्य जीवन की रागात्मक सम्भावनाओ का उद्घाटन अथवा चित्रण है। बदलते हुए सास्कृतिक तथा भौतिक परिवेश में जीवन की सम्भावनाएं भी

---

*राजकमल, दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियां' की भूमिका-रूप मे लिखित।

बदलती रहती है, जिनके फलस्वरूप नये साहित्य की सृष्टि अपेक्षित हो जाती है। साहित्यकार अपने पाठक में नवीन परिवेश की चेतना जगाता है और उस परिवेश की अपेक्षा में रागात्मक जीवन की सम्भावनाओं का निरूपण करके पाठक के जीवन-स्पन्दन को वेगपूर्ण एव समृद्ध बनाता है। हमारी धारणा है कि हर प्रकार का सास्कृतिक प्रयत्न, साहित्य की भाँति ही, जीवन-प्रक्रिया को तीव्र एव समृद्ध करने का एक उपकरण होता है।

समीक्षा भी एक ऐसा ही प्रयत्न है। समीक्षक का पहला कार्य यह है कि वह आलोच्य कृति का विश्लेषण करे, अर्थात् यह बताने का प्रयत्न करे कि साहित्यकार जीवन के, जिसमें बाह्य परिवेश एव आन्तरिक प्रतिक्रिया दोनो का समावेश है, किस पहलू का उद्घाटन करने बैठा है, उस पहलू के उद्घाटन का साहित्यकार के युग के लिये क्या महत्व है। समीक्षा का यह पक्ष समाज-शास्त्रीय अथवा ऐतिहासिक पक्ष कहा जा सकता है। दूसरे, समीक्षक को यह बता सकना चाहिये कि आलोच्य कृति में जीवनानुभूति, अथवा उसका प्रकाशन, कितना सप्राण एव प्रौढ़ हो सका है। सब प्रकार के साहित्य में रस लेने वाले पाठक समाज में होते हैं—ऐसे भी पाठक हैं जो तुलसी के 'मानस' की अपेक्षा राधेश्याम कथावाचक की 'रामायण' में अधिक रस लेते रहे हैं—किन्तु मूल्याकन के लिये श्रेष्ठतम पाठको की रुचि को ही मानदण्ड बनाया जा सकता है। जहाँ विश्लेषण द्वारा समीक्षक साहित्यकार के कार्य को आगे बढ़ाता है, अर्थात् पाठको की रागमूलक बोध-चेतना के उन्मेष में, उस चेतना को बुद्धि के सामान्य प्रतीको द्वारा पकडा देने में, सहायक होता है, वहाँ वह दूसरी ओर जातीय रुचि के परिष्कार एव उस रुचि के पैमानो के सरक्षण का काम भी करता है।

सक्षेप में, श्रेष्ठ समीक्षक में दो योग्यतायें होनी चाहियें—एक, आलोच्य कृति के कलात्मक सौष्ठव अथवा उसकी प्रौढता के परीक्षण की योग्यता; दूसरे, कृति में निबद्ध अनुभूति के युग-सापेक्ष मूल्य या महत्व को परखने की शक्ति। प्राचीन साहित्य के समीक्षक में यह देखने की क्षमता भी होनी चाहिये कि आलोच्य कृति का कितना और कौन-सा अश समकालीन पाठकों के लिये रसात्मक सार्थकता रखता है।

: २ :

ऊपर हमने जिस आदर्श समीक्षक का वर्णन किया है, उस कोटि के समीक्षक किसी जाति अथवा युग के साहित्य को कठिनाई से मिलते हैं, और कम ही मिलते हैं। हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं कि वर्तमान हिन्दी-साहित्य ने

अभी तक उक्त श्रेणी का सर्व-शक्ति-सपन्न समीक्षक एक भी उत्पन्न नहीं किया। हमारे सर्वश्रेष्ठ समीक्षक आचार्य शुक्ल हैं; किन्तु उनमें भी कमियाँ हैं। शुक्ल जी के व्यक्तित्व की सबसे बडी कमी सास्कृतिक है, वे पूरी तरह आधुनिक नहीं हैं। वे यह नहीं जानते कि उनके अपने युग में जीवन की कौन-सी नई मांगें और सम्भावनायें हैं, जिनका प्रकाशन समकालीन साहित्य में हो रहा है, और होना चाहिये। इस कमी के कारण शुक्ल जी एक महत्वपूर्ण आलोचक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य कहीं कर पाते, अर्थात् समसामयिक साहित्य का सफल मूल्याकन। किन्तु शुक्ल जी में श्रेष्ठ आलोचक की एक शक्ति पूर्णतया विकसित है, अर्थात् कलात्मक सौष्ठव अथवा व्यक्तिगत प्रौढता को आँकने की शक्ति। इसके साथ ही शुक्ल जी में बौद्धिक विश्लेषण की भी पूर्ण क्षमता है, जिसका मतलब है कि वे काव्य की अनुभूत विशेषताओ को बुद्धि की, अर्थात् सामान्य धारणात्मक प्रतीको (Conceptual-categories) की भाषा में प्रकट करने की पूर्ण योग्यता रखते हैं। शुक्ल जी में साहित्यिक अभिव्यक्ति अथवा अनुभूति की उन विशेषताओ को, जो उसे प्रौढ एव रसपूर्ण बनाती है, विश्लेषित करने एव नाम देने की अद्भुत क्षमता है। इस क्षमता का सम्पादन वे पाठक ही कर सकते हैं जो प्रतिभाशाली होने के साथ-साथ, उच्चतम साहित्य के ईमानदार सततसेवी भी हैं।

अपने सुन्दर निबन्ध में श्री शिवनाथ जी ने शुक्ल जी के अनेक सूक्ष्म मन्तव्यो का सफल निर्देश किया है। हम उनके इस कथन से सहमत हैं कि शुक्ल जी के इतिहास में इतिहास-तत्व की अपेक्षा समीक्षा-तत्व ही प्रधान है। शुक्ल जी साहित्य में पहले कलात्मक सौष्ठव अथवा अभिव्यक्तिगत प्रौढता खोजते हैं, बाद में कुछ और।

शिवनाथ जी ने शुक्ल जी के सम्बन्ध में दो-एक बातें बडे मार्के की कहीं है। "शुक्ल जी ने जो विचार व सिद्धान्त व्यक्त किये हैं, वे पचे-पचाये हुए उनके अपने हैं।" और "कहीं उन्होने 'उडती सम्मति' नहीं दी है।" शिवनाथ जी के इन वाक्यों को भाष्य की आवश्यकता है। अपनी समीक्षा में शुक्ल जी सिर्फ उन्हीं पैमानों का प्रयोग करते हैं जिनकी सच्चाई का, अपने विस्तृत अध्ययन के क्षणों में, उन्होने साक्षात्कार किया है। वह सिर्फ और उतने ही पैमानों का प्रयोग करते है जो उन्हे अध्ययन-रूप अनुभूति के द्वारा प्राप्त हुये है। वे सुने-सुनाये, प्रख्यापित एव प्रचारित वादो या पैमानों का उपयोग नहीं करते ; वे ऐसे मानो से, अथवा उनका सकेत करने वाले वादो से प्रभावित नहीं होते। साथ ही वे स्वानुभूत मानो का प्रयोग बड़े

आग्रह, आत्मविश्वास एवं शक्ति के साथ करते है । शुक्ल जी की समीक्षा सचेत पैमानों पर और वे पैमाने ठोस रसानुभूति पर आधारित रहते है । यही कारण है कि उनकी समीक्षा इतनी गुरु-गम्भीर एव शक्तिपूर्ण जान पडती है । शुक्ल जी एक नवोदित, अर्धविकसित साहित्य के नहीं, अपितु किसी दूसरे समृद्ध साहित्यिक युग के समीक्षक है । शुक्ल जी के अध्ययन एवं अनुभव की पृष्ठभूमि हिन्दी के और शायद सस्कृत के, विकसित युगो का साहित्य है, वर्तमान हिन्दी का अविकसित अथवा अर्धविकसित साहित्य नहीं ।

: ३

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी छायावाद-युग के प्रथम प्रभावशाली समीक्षक है; आधुनिक हिन्दी के शुक्लोत्तर समीक्षको में उनका ऊँचा स्थान है । वाजपेयी जी शुक्ल जी के शिष्य है, ऐसे सुयोग्य शिष्य जो अनेक स्वतंत्र, शक्तिमान व्यक्तित्व द्वारा गुरु की एकांगिता का विरोध कर सकते है । यह विरोध इस बात का द्योतक था कि शिष्य को अपनी इस ग्राहिता में उतनी ही आस्था और विश्वास है जैसा कि गुरु को । वर्तमान हिन्दी के कम आलोचकों ने अपनी प्रतिभा का इतना साहसपूर्ण परिचय दिया है । वस्तुत. यदि वाजपेयी जी में साहस और प्रतिभा का सहज सयोग न होता तो वे शुक्ल जी का इतना दृढ़ विरोध न कर पाते और नवोदित छायावादी काव्य को वह बौद्धिक अवलम्ब न दे पाते जो उन्होने दिया ।

ऊपर हमने कहा था कि शुक्ल जी अर्धविकसित हिन्दी-साहित्य के विशिष्ट युग के लेखक नहीं प्रतीत होते । समसामयिक साहित्य को वे सुदूर ऊँचाई से देखते जान पडते है । अपने इतिहास में उन्होने आधुनिक साहित्यकारो पर लिखा है, किन्तु उनमें से अधिकाश में उनका मन नहीं रमा है । इसके विपरीत वाजपेयी जी सम्पूर्ण अर्थ में अपने युग के लेखक है । इस दृष्टि से उन्होने (१) नई प्रतिभाओ को अपना समर्थन एव प्रोत्साहन दिया, (२) आधुनिक हिन्दी के पाठको का रुचि-परिष्कार किया, और (३) आलोचक-क्षेत्र में नई दृष्टियो के प्रसार का मार्ग प्रशस्त किया ।

एक कम विकसित साहित्य के युगीन लेखक की कुछ कठिनाइयाँ होती है, जिनके कारण वह अपनी साहित्य-साधना को अखण्ड रूप में अपनी प्रतिभा के उच्चतम धरातल पर प्रतिष्ठित नहीं रख पाता । उसे साधारण समस्याओं तथा मामूली रचनाओ पर अपनी राय प्रकट करनी पडती है और प्रगति एवं प्रवृत्तियों की क्षुद्रतम गति-विधि का हिसाब रखना पड़ता है । समीक्षक यदि

ऐसे साहित्य का शिक्षक भी हो तो उसका यह दुर्भाग्य और भी बढ जाता है। 'प्रिय प्रवास' 'साकेत' और 'कामायनी' के भी अध्यापक के भाग्य में वह रस नहीं हो सकता जो कालिदास, भवभूति अथवा गेटे के शिक्षक को सुलभ होगा। हम सकेत कर रहे है कि वाजपेयी जी द्वारा लिखित पचासों लेखों तथा कृतियो की समीक्षाओं में जो गुणात्मक विषमता है, उसका बहुत-कुछ कारण उनका परिवेश तथा परिस्थितियाँ है। आज यदि वाजपेयी जी की अनेक सम्मतियाँ और अनुभूतियाँ त्रुटिपूर्ण दिखाई देने लगी है, जिनमें उन्हे स्वय भी सशोधन करने पड़ गये है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। बात यह है कि वाजपेयी जी के प्रवेश के बाद हिन्दी-आलोचना जिन नये पथो पर चलने लगी उन्हें आलोकित करने वाली समृद्ध परम्परा हमारे साहित्य के पास नहीं थी।

डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र ने वाजपेयी जी को सौष्ठववादी आलोचक कहा है, जो विशेष उपयुक्त है। वाजपेयी जी ने हिन्दी समीक्षा को प्रबन्ध-काव्य-वाद तथा "मर्यादावाद" के कठिन दायरो से मुक्ति पाने में मदद दी और उसे प्रगीत काव्य के सौष्ठव से परिचित होने का उत्साह दिया।

उक्त लब्धियों के बावजूद वाजपेयी जी शुक्ल जी की कक्षा के समीक्षक नहीं जान पडते। इसका क्या कारण है ? ऊपर हमने कहा है कि कतिपय अनिवार्य परिस्थितियाँ इसके खिलाफ थीं कि वाजपेयी जी अथवा कोई दूसरा युगीन आलोचक अपनी प्रतिभा का उच्चतम उपयोग कर सके। किन्तु प्रस्तुत प्रश्न दूसरा है—प्रश्न यह है कि उक्त दो समीक्षको के गुणात्मक भेद को किस प्रकार विश्लेषित किया और समझा जाय ?

शुक्ल जी की दुर्जेय शक्ति के रहस्य का सकेत हमने किया था—शुक्ल जी जिन-जिन मानो का प्रयोग करते है वे उनके द्वारा सुचिन्तित और अनुभूत है। शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तो एव समीक्षा-क्रिया में परिपूर्ण सामजस्य है। वाजपेयी जी में यह सामजस्य उतना पूर्ण नहीं है। वस्तुत शुक्ल जी के बाद के किसी भी आलोचक मे उस प्रकार का पूर्णसामाजस्य दिखाई नहीं देता। उत्तर-काल के प्राय सभी आलोचक न्यूनाधिक मात्रा में ऐसे सिद्धान्तो या समीक्षा-सूत्रो का प्रयोग करते है जो उनके साहित्यिक अनुभव पर आधारित नहीं है और बाहरी स्रोतो से ग्रहण या प्राप्त किये गये है। इस प्रकार के मानो के प्रयोग जिन में परिपूर्ण-पारस्परिक सगति स्थापित नहीं हो पाती, अक्सर पाठको के मन में उल्लास एवं अविश्वास की भावना पैदा करते है, जिनके फलस्वरूप वे समीक्षक की शक्ति से प्रभावित नहीं हो पाते। अपनी प्रतिनिधि रचना 'हिन्दी-साहित्य बीसवीं शताब्दी' की भूमिका के

अन्तिम भाग में वाजपेयी जी ने समीक्षा एव मूल्याकन के सात सूत्रो का उल्लेख किया है, वाजपेयी जी की कृतियो से यह स्पष्ट नही होता कि उन्होंने इन सूत्रो को कितनी गहरी छानबीन करके प्राप्त किया है। इन विभिन्न सूत्रो के आपेक्षिक महत्व के सम्बन्ध में भी उनकी स्थिति बहुत-कुछ अनिश्चत जान पडती है। उदाहरण के लिए पाठक उनके निम्न वक्तव्यों में निहित मन्तव्यो का विचार करें।

(१) समीक्षा में जो बात हमें सर्दव स्मरण रखनी चाहिये, किन्तु जिसे शुक्ल जी ने बार-बार भुला दिया है, यह है कि हम किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर उसके आधार पर कला की परख नहीं कर सकते। (पृ० ८३)

(२) शुक्ल जी ने यह भी नहीं बतलाया कि अत्याचारी अत्याचार के लिए क्यो सन्नद्ध होता है। क्या यह उसका सहज गुण है या समाज की ही देन है ?

उक्त दोनो बातें वाजपेयी जी की समीक्षक प्रकृति के उदार पहलू को प्रकट करती है, किन्तु वे उनके स्वतत्र चिन्तन का फल नहीं है। इसका प्रमाण उनके दूसरे वक्तव्य है ।

(३) यह व्यक्तिवाद की प्रखर धारा सामाजिक उपकूलो को डुबोकर उमड कर बहना चाहती है। यह हमारे समस्त दृढ मूल सस्कारो को उखाड़ फैंकने की चिन्ता कर रही है . हमें सावधान रहना होगा। . इस विषय में यूरोप की नवीन विचारधारा हमारे यहाँ से मेल नहीं खा सकती। (भूमिका पृ० ३७) अन्तत वाजपेयी जी मर्यादावादी शुक्ल जी के शिष्य है। किन्तु उद्धरण (२) का क्या तात्पर्य है। दास्ताएव्स्की नैतिक है या अनैतिक ?

(४) विगत युग के सस्कारो की स्थापना नव्यतर युग में करना निसर्गत. एक कृत्रिम प्रयास है। (पृ० २१)

वाजपेयी जी ने किसी सुचिन्तित मन्तव्य के बल पर कहीं यह निर्देश करने का प्रयत्न नही किया है कि विशाल प्राचीन भारतीय सस्कृति का कौन-सा अग रक्षणीय है और कौन नहीं, तथा योरपीय सस्कृति से क्या ग्रहणीय है अथवा नहीं, और क्यो। 'आधुनिक साहित्य' में उन्होंने फ्रायडवादियो तथा प्रयोगवादियों पर रोष और व्यग किये है। यथा—

(५) एक नये प्रकार की साहित्यिक धारणा अवश्य चल पडी है कि साहित्य की सृष्टि अक्सर भले आदमी नहीं करते।

(६) काव्य-क्षेत्र प्रयोगो की दुनिया से बहुत दूर है। (कवि का) दूसरा

उत्तरदायित्व काव्य-परम्परा और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति है।

अन्तिम उद्धरण की उ० स० (१) और (५) से तुलना कीजिये।

इन उद्धरणो को उपस्थित करने का मतलब सिर्फ यह दिखाना है कि वाजपेयी जी की मान्यताओं के पीछे व्यवस्थित चिन्तन का बल नहीं है और वे साहित्यिक अनुभूति से उत्थित होती भी नहीं जान पडतीं। वस्तुतः जो समीक्षक साहित्यकारो के जीवन-दर्शन, उनकी नैतिकता आदि पर टिप्पणी करे उसे बहुत बडा सास्कृतिक विचारक होना चाहिये, जो कि हरएक के लिये साध्य नहीं है। मान लीजिये कि फ्रायड का यह सिद्धान्त सत्य ही हो कि अधिकांश साहित्यकार सामाजिक कुंठाओ की तृप्ति के लिए साहित्य-सृष्टि करते हैं और अधिकाश पाठक इसीलिए साहित्य पढ़ते हैं, तो क्या भारतीय या किसी संस्कृति के नाम पर उस सत्य को ठुकरा देने से मनुष्य का कल्याण होगा ?

वाजपेयी जी पर यह लम्बी टिप्पणी करने का हमारा मुख्य प्रयोजन यह है कि उन्हे उपलक्ष्य बनाते हुए, हम पाठको को यह प्रतीति करायें कि शक्तिमान समीक्षक बनने की यह अनिवार्य शर्त है कि समीक्षक केवल उतने ही और उन्ही पैमानो का प्रयोग करे जिनका उसने अपनी अध्ययन-अनुभूति में ईमानदारी से साक्षात्कार किया है, और जिन्हे उसने दीर्घ चिन्तन द्वारा आत्मसात् कर लिया है। दूसरे, हमारी कामना और निवेदन है कि वाजपेयी जी अपनी मान्यताओ को और स्पष्ट आधार देने का प्रयत्न करें।

वाजपेयी जी शुक्ल जी के समकक्ष विचारक भले ही न हो पर उनकी रस-सवेदना निश्चय ही परिपक्व है और उनमें उसके विश्लेषण की शक्ति भी है। उदाहरण—'गुप्ता जी की आदर्शवादिता में औदात्य उतना नहीं है जितनी एक भावुकतामय नैतिकता' (हिन्दी स० बी० श०, ३२); 'केशवदास की उस (छन्दो की) बहुलता की अपेक्षा गोस्वामी जी की चौपाइयो की तरंग-भगिमा अधिक रमणीय, काम्य और उपयुक्त हुई हैं', (पृ० ४६) 'साकेत के कवि में भक्ति-भावना का अतिशय्य नहीं, बल्कि कमी है', (पृ० ५२) इत्यादि। माचवे की 'इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बुद्धि।' पक्ति पर वाजपेयी जी की यह टिप्पणी कितनी सटीक है—'प्राण' और बुद्धि के बीच में हाथ किस बारीकी से बैठा है।' (आधुनिक साहित्य, ३८) हमारा विश्वास है कि इस प्रकार की टिप्पणियो का आदर करने से प्रयोगवादी काव्य लाभान्वित होगा। इसी प्रकार 'बीसवीं शताब्दी' में वाजपेयी जी ने 'अनूप' और 'रत्नाकार' के कवित्तो के सगीत पर जो टिप्पणी की है, वह उनकी सगीत सवेदना और विश्लेषण-क्षमता दोनो का प्रमाण है।

४.

वाजपेयी जी ने बहुत स्थान ले लिया। छायावाद-युग के सहानुभूतिपूर्ण समीक्षकों में डा० नगेन्द्र का विशिष्ट स्थान है। रसग्राहिता और विश्लेषण में वे शुक्ल जी के सुयोग्य बौद्धिक शिष्य एव वाजपेयी जी के श्रेष्ठ साथी हैं। नगेन्द्र जी ने कहीं 'जीवन-दर्शन' एव 'नैतिकता' के नाम पर किसी लेखक को भला-बुरा नहीं कहा है। उन्हे आधुनिक काव्य की आध्यात्मिकता में 'एकदम विश्वास नहीं है।' (विचार और अनुभूति पृ० १२३) वाजपेयी जी की अपेक्षा वे अधिक सगत सौष्ठववादी एव आनन्दवादी हैं। जैसा कि श्री जगदीश गुप्त ने कहा है, वे 'रसवाद' के गम्भीर अध्येता और समर्थक हैं। साहित्य में वे मुख्यत 'रस' की खोज करते हैं। वे काव्यानुभूति के सूक्ष्मतम सवेदनो को ग्रहण और विश्लेषित कर सकते हैं। यह विशेषता दुर्लभ है, विशेषत. वादग्रस्त समीक्षकों में। 'विचार और अनुभूति' में नगेन्द्र ने पत और महादेवी की काव्यानुभूति के सूक्ष्म प्रभेदों को सफलता से निरूपित किया है—'भाषा के रगों को हल्के-हल्के स्पर्श से मिलाते हुए मृदुल-तरल चित्र आँक देना उनकी (महादेवी जी की) कला की विशेषता है। पन्त की कला में जडाव और कटाई है, फलत. उनके चित्रो की रेखाएँ पैनी होती हैं। महादेवी की कला में रग-घुली तरलता है, जैसी कि पखुडियों पर पडी ओस में होती है।' (विचार और अनुभूति, पृ० १२७) श्री सियाराम शरण गुप्त पर उनकी यह सक्षिप्त टिप्पणी कितनी सार-गर्भित और सार्थक है—'उन्होने 'भक्ति' को बचाकर मुक्ति की साधना की है, इसलिए इस कविता में जीवन का स्वाद कम है। (सियारामशरण गुप्त, ६६)

नगेन्द्र की शैली परिमार्जित और ओजस्विनी है। वह कभी, विशेषतः इधर की कृतियों में, अपने विशिष्ट धरातल से स्खलित नहीं होती। उनके निबन्धों एव वक्तव्यो में हमें छिछलेपन या जल्दबाजी की गन्ध नहीं मिलती।

किन्तु नगेन्द्र में रसानुभूति के अनुरूप मौलिक एव परिपक्व सास्कृतिक दृष्टिकोण दिखाई नहीं देता; उनकी प्रवृत्तियो एव वादों के विश्लेषण की शक्ति भी सीमित है। उनकी रचनाओ में हमें यह आभास कम मिलता है कि उन्हे वर्तमान युग की सास्कृतिक विचारधाराओ एव समस्याओं की गहरी चेतना है। उन्होंने 'रसवाद', 'रिचर्डस' आदि को मनोयोग से पढा है, पर युग के सास्कृतिक सघर्षो से तटस्थ-से रहे हैं। प्रस्तुत लेखक भी मानता है कि साहित्यकार की जीवन-दृष्टि पर ममता प्रकट करना समीक्षक का विशिष्ट कार्य नहीं है—यहाँ वह नगेन्द्र की समीक्षा-शैली का समर्थक है—किन्तु साथ

ही उसकी धारणा है कि समीक्षक में आलोच्य लेखक के सास्कृतिक या विचारात्मक पक्ष को विश्लेषित करने, तथा उसकी गहराई एव ऊँचाई नापने को आँकने की क्षमता अनिवार्य रूप में अपेक्षित है। इसके विना समीक्षक लेखक की खण्ड अनुभूतियो का विश्लेषण भर कर सकता है किन्तु उसके समग्र कृतित्व का माप और उसकी श्रेणी (Rank) का निर्धारण नहीं कर सकता।

. ५ :

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्री गुलाबराय सम्वन्धी निवन्धो में आलोच्य व्यक्तियो पर इतनी मार्मिक सहानुभूति और अपेक्षित तटस्थता के साथ लिखा गया है कि उन पर टिप्पणी करना अनावश्यक मालूम पडता है। फिर भी प्रथम व्यक्तित्व पर कुछ कहने को जी होता है। हम सीधे प्रश्न करें—द्विवेदी जी की लिखी चीजें इतनी ठोस एव सबल क्यो जान पडती हैं ? हमारे विचार से इस ठोस पन का आधार वही है जिसका उल्लेख शुक्ल जी के सम्वन्ध में किया गया—द्विवेदी जी ऐसा कोई वक्तव्य प्रायः नहीं देते जो दीर्घ अध्ययन और चिन्तन का फल नहीं है, जिसकी सत्यता का उन्होने न्यूनाधिक साक्षात्कार नहीं किया है। सब प्रकार के प्रथम श्रेणी के लेखको की—साहित्यकारों, विचारकों, पण्डितो आदि सभी की—यह सार्वत्रिक विशेषता है। यही कारण है कि ऐसे लेखको की रचना में एक ऐसी शक्ति होती हैं जो अनुकरण से लभ्य नहीं है।

द्विवेदी जी मुख्यत' एक पण्डित है, एक महापण्डित या स्कालर, जिनका प्रभुत्व क्षेत्र सास्कृतिक इतिहास है। साथ ही उनके व्यक्तित्व में मानववादी जीवन-दृष्टि का आवेगात्मक आकलन भी है। यदि द्विवेदी जी इस दृष्टि को समग्रता में आत्मसात् न कर चुके होते तो वे ऐसे सशक्त उद्‌गार न प्रकट कर पाते जैसे उन्होने जगह-जगह किये है—'मनुष्य की जीवन-शक्ति बडी निर्मम है। वह सभ्यता और सस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम, जिजीविषा। वह गगा की अवाधित अनाहत धारा के समान सब कुछ को हज़म करने के बाद भी पवित्र है।' मनुष्य की इस दुर्दम जीवनेच्छा में द्विवेदी जी की पूर्ण आस्था है। इसीलिए वे वुद्धिवादी होने के साथ-साथ, पक्के आशावादी भी है। शायद इसीलिए वे वर्तमान युग की सन्देह, क्षोभ, नैराश्य आदि भावनाओ से सहानुभूति नही कर पाते, और उन साहित्यकारों के सम्वन्ध में अन्वेषण-विवेचन करना पसन्द करते है जिन्होने उक्त जीवन-दृष्टि को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। साहित्य के प्रति उनका दृष्टिकोण उपयोगितावादी है। निरा कलात्मक सौष्ठव उन्हे उतना

आकृष्ट नहीं करता। इस दृष्टि से वे शुक्ल जी तथा अन्य उल्लिखित समीक्षको से भिन्न हैं। वस्तुत द्विवेदी जी एक शुद्ध समीक्षक नहीं हैं। वर्तमान लेखको के आग्रहपूर्ण मूल्याकन से वे प्राय कतराते रहे हैं। वे उन आलोचकों में नहीं हैं जो समसामयिक साहित्य की दिशा एव मूल्याकन का निर्धारण करते हैं। उन्हे इसकी भी विशेष चिन्ता नहीं कि वर्तमान साहित्य के मूल्याकन में कहाँ कितनी गडवड हो रही है। जीवनेच्छा के स्तोता होते हुए भी वे वर्तमान जीवन या साहित्य की समस्याओ से तटस्थ दिखाई देते हैं। यही कारण है कि जहाँ सभी वादों के समर्थक उनकी विद्वत्ता का आदर करते हैं, वहाँ कोई भी मतामत की विशेष परवाह नहीं करता।

द्विवेदी जी की मेकडानल्ड, विण्टरनित्स आदि से जो तुलना की गई है वह बहुत समीचीन है। यदि हिन्दी के क्षेत्र में ऐसे दस-बीस विद्वान होते तो सम्भवत द्विवेदी जी को समीक्षक कहने की भूल न की जाती। योरपीय साहित्यों के समीक्षात्मक इतिहासों में इस कोटि के विद्वानो अथवा लेखको का परिगणन समीक्षको में नहीं किया जाता। द्विवेदी जी साहित्य के साधारण इतिहासकारों से भिन्न और महत्तर हैं। साहित्य सस्कृति की एक अभिव्यक्ति है। साहित्य के इतिहास द्वारा समग्र जातीय सस्कृति पर प्रकाश डालना द्विवेदी जी का लक्ष्य है।

श्री विजयेन्द्र स्नातक ने श्री गुलाबराय की समन्वय-वृत्ति पर बल दिया है। एक अध्यापक में यह वृत्ति सराहनीय कही जा सकती है। किन्तु चिन्तन के क्षेत्र में समन्वय तभी सफल एव सार्थक होता है जब विभिन्न मतवाद चिन्तक की अनुभूति में पिघलकर रासायनिक ऐक्य प्राप्त करें। भारतीय संस्कृति ने जहाँ इस प्रकार के सजीव समन्वय किये हैं वहीं वह शक्तिमती है। अनुभूति के आधार से वचित निर्जीव समन्वय हितकर नहीं होता। भविष्य के समन्वयवादियो को हमारी यह आवश्यक चेतावनी है। प्रस्तुत लेखक ने गुलाबराय जी का विशेष अध्ययन नहीं किया। अत. वह उनके सम्बन्ध में निर्णय देने का अधिकारी नहीं है।

: ६ :

श्री जगदीश गुप्त ने प्रगतिवाद की लब्धि और कमियो का समुचित उल्लेख किया है। प्रगतिवाद की सबसे बडी देन यह है कि उसने शुक्ल जी के 'प्रबन्ध काव्यवाद' अथवा 'सामाजिक एव लोक-मगलवाद' को अपेक्षित नवीनता का जामा पहनाकर उपस्थित किया। हिन्दी समीक्षा में समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण प्रगतिवाद का विशेष दान कहा जा सकता है, यद्यपि उसके

बीज शुक्ल जी की समीक्षाओ में मौजूद है। श्री शिवदानसिंह चौहान ने मार्क्सवादी समीक्षा-दृष्टि को समझाने का विशेष प्रयत्न किया है। उनकी सबसे बडी कमी है—साहित्यिक रसग्राहिता का अभाव। हम इससे सहमत नहीं है कि प्रगतिवादियो में वे 'सबसे उदारमना व्यापक समीक्षा-दृष्टि सम्पन्न आलोचक है।' अपनी 'प्रगतिवाद' पुस्तक के पृष्ठ १४६-१४७ पर उन्होंने लिखा है कि जहाँ 'जैनेन्द्र' और 'अज्ञेय' की कहानियो में शिथिलता बढ़ती जा रही है वहाँ यशपाल और अश्क की कला में निरन्तर निखार और सौष्ठव आता जा रहा है। अश्क के 'गिरती दीवारें' उपन्यास की शिवदान जी ने (प्रतीक में) विशेष प्रशसा की थी। किन्तु इधर वे अश्क से अप्रसन्न और जैनेन्द्र जी से विशेष प्रसन्न जान पडते है। इस प्रकार के निर्णयो में साहित्यिक रसग्राहिता के प्रमाण खोजना व्यर्थ है। ऐसी आलोचनायें न पाठक की रुचि का परिष्कार कर सकती है, न लेखको का समुचित प्रोत्साहन।

श्री रामविलास शर्मा की 'निराला', 'प्रेमचन्द', 'भारतेन्दु युग' आदि पुस्तकें अपने ढग की उत्तम है। शर्मा जी साहित्य में जनवादी तत्व खोजते हैं और उन्हे देखने की विकसित क्षमता रखते है। उनकी कमी यह है कि वे साहित्यिक महत्व के दूसरे उपादनो को देखने से इन्कार करते है। जब हम कहते है कि एक लेखक महान् है, तो इसका मतलब यह होता है कि उसने मानवीय जीवन और सस्कृति के लिए महत्वपूर्ण दान दिया है। समीक्षक का कर्तव्य है कि वह इस दान को सचाई से समझने का प्रयत्न करे। यदि समझदार पाठक यह महसूस करते है कि टॉलस्टाय प्रेमचन्द से बड़े कलाकार है तो सच्चा समीक्षक इससे इन्कार नहीं करेगा। वह इस अनुभूति को बुद्धिगम्य बनाने की कोशिश करेगा। और यदि जनवादिता का पैमाना उक्त अनुभूति की व्याख्या नहीं कर सकता तो यह उस पैमाने का दोष है, न कि उस अनुभूति के वाहक पाठको का। सच यह है कि बड़े लेखक किसी सकीर्ण अर्थ में जनवादी नहीं होते, अज्ञानी जनता से सहानुभूति रखते हुए भी वे मुख्यत. उसके लिये नहीं लिखते—वे गाँवो के साधारण स्कूल-शिक्षको का काम करने नहीं आते। महान् लेखक अपने युग के समुन्नत जीवन-बोध एव चेतना को आगे बढाने का उपकरण होते है—बडे-से-बडा व्यक्ति उनसे कुछ सीख सकता है। टॉलस्टाय ऐसे ही लेखक है। उनके उपन्यासों को पढकर 'मार्क्स', 'रसेल' 'गाधी' जैसे विचारक तथा महापुरुष भी मानवीय जीवन के सम्बन्ध में नई अन्तर्दृष्टि पा सकते है।

. ७

श्री नलिन विलोचन शर्मा के कतिपय निष्कर्षों से हम असहमत होने को वाध्य हैं। मौलिक कहलाने के लिए सिर्फ नयी वात कहना काफी नहीं है। वात ऐसी भी होनी चाहिए जो जीवन या अनुभूति के किसी क्षेत्र पर नया प्रकाश डाल सके। असाधारणीकृत व्यक्तिगत वैचित्र्य, दूर की कौडी, ध्यान भले ही आकृष्ट करे, विचारवानो को श्लाघ्य नहीं प्रतीत होती। हम नहीं मानते कि हिन्दी के आलोचक की सवसे बड़ी उपलब्धि रसालकार की दृष्टि से किसी योरपीय साहित्य का इतिहास लिख लेना होगी। समाज-शास्त्रीय एव मनोवैज्ञानिक आलोचना के इस युग में स्वय हिन्दी-साहित्य का इतिहास भी उक्त दृष्टिकोण से नहीं लिखा जा सकता—हमें 'मिश्रवन्धु विनोद' के युग में वापस नही जाना है। न हमें इस बात में शुक्ल जी का विशेष महत्त्व दीखता है कि उन्होने एक खास कवि—ई० ई० कमिंग्ज़ (क्युमिंग्ज ?) का उल्लेख किया है। यदि शुक्ल जी ऐसे दो-चार नाम न लेते तो भी उनका महत्व ठीक उतना ही रहता। कोई भी व्यक्ति विश्व के समस्त श्रेष्ठ साहित्यकारो को नहीं पढ़ सकता, फिर कमिंग्ज तो एक साधारण कवि है। (शिप्ले की 'डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिट्रेचर' में कमिंग्ज़ का उल्लेख नहीं है।)

शर्मा जी ने प्रस्तुत लेखक को लक्ष्य कर लिखा है—'उन्हे नञ्—तत्पुरुष का भी इल्म नहीं है और अस्फालन करते है रस और व्यजना पर।' यह कुछ ऐसा ही वक्तव्य हुआ जैसे श्रीमती जी कहें—जीरे और अजवाइन तक का भेद नहीं जानते और लेक्चर देते है फिलासफी पर।' भेद यही है कि श्रीमती यह वात मुस्करा कर कहेंगी जब कि शर्मा जी के वक्तव्य के पीछे विचित्र अहकार का पुट है। मेरा अनुमान है कि डॉ० रिचर्डस जैसे असस्कृतज्ञ को भी रस-ध्वनिवाद पर विचार करने का अधिकार है, ठीक वैसे ही जैसे शुक्ल जी और सुधाशु जी को, इटालियन भाषा तथा उसका व्याकरण न जानते हुये भी, क्रोचे के मंतव्यों को आँकने का अधिकार है।

वास्तविक विद्वान् अपने ज्ञान का ढिढोरा नहीं पीटते। अल्प-परिचित लेखको, ग्रंथों और विषयो का नामोल्लेख कोई महत्व की वात नहीं है। मै विश्वविद्यालयों के कुछ शिक्षको को जानता हूँ जो नवीनतम पुस्तको के लेखको, प्रकाशको के नाम याद करके तथा पत्रिकाओं में उनकी समीक्षायें पढ़कर साथियो से पूछते फिरते है—आपने फलां लेखक की 'लेटेस्ट' पुस्तक देखी है ?

हिन्दी के उदीयमान लेखको से हमारा अनुरोध है कि वे इस प्रकार के

छिछले तरीको से महत्वशाली बनने का प्रयत्न न करें और 'लेटेस्ट' की जानकारी का स्वप्न न देखें । आप दूसरे द्वारा उसी सत्य का न्यूनाधिक स्वीकार करा सकते हैं जिसका आपने साक्षात्कार किया है , ऐसे ही सत्य को आप बुद्धिगम्य एव शक्तिपूर्ण ढग से भी प्रकट कर सकते हैं । जिस दिन हिन्दी का एक भी कृती आलोचक 'प्रसाद' अथवा 'निराला' के सार्वभौम महत्व का सचमुच साक्षात्कार कर लेगा—जैसे शुक्ल जी ने जायसी के महत्व का किया था—उस दिन वे लेखक निश्चय ही विश्व के श्रेष्ठतम कलाकारो में गिने जाने लगेंगे, लेकिन उससे पहले नहीं । केवल वैसा वक्तव्य दे देने से निराला, वाल्मीकि और कालिदास के समकक्ष नहीं हो जाते और न 'घेरे के बाहर' श्रेष्ठ उपन्यास ही बन जाता है ।

यदि हिन्दी समीक्षा अपनी कमियो का सतर्क निरीक्षण करती चले—जैसा कि वह कर रही है—तो कोई कारण नहीं कि उसका भविष्य उज्ज्वल न हो । इधर 'आलोचना' के प्रकाशन से अनेक नये समीक्षक-विचारक प्रकाश में आये हैं और आ रहे हैं । आलोचना विशेषांक (अक्तूबर १९५३) के निबन्धो का सामान्य धरातल किसी भी भारतीय भाषा के लिये गर्व की वस्तु हो सकता है । सक्षेप में आज के समीक्षक के सामने दो कार्य हैं—अभिव्यक्तिगत प्रौढ़ता की चेतना को अक्षुण्ण रखते हुये साहित्य में प्रकाशित युगीन अनुभूति का विश्लेषण करना । जहाँ ये दोनो कार्य विकसित सवेदना तथा दृष्टि चाहते हैं, वहाँ दूसरा सास्कृतिक सम्पन्नता की भी अपेक्षा रखता है । यही कारण है कि आज बहुत कुछ समीक्षा-कार्य स्वय क्रान्तदर्शी लेखको को करना पड़ रहा है । अग्रेजी के इलियट, पाउण्ड, हर्बर्ट, रीड आदि कवि ही नहीं, समीक्षक भी हैं और फ्रेञ्च, आन्द्रे, जींद तथा जर्मन टॉमस मान केवल उपन्यासकार ही नहीं हैं । यही बात हमारे दिनकर, अज्ञेय, धर्मवीर, भारती, विजयदेव नारायण साही आदि पर न्यूनाधिक लागू है । हमारे दोनो ही कोटि के समीक्षकों का धरातल अभी यूरोपीय समीक्षको से निम्नतर है, अवश्य , पर यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी आलोचना तेजी से उच्चतर भूमिकाओ की ओर अग्रसर हो रही है ।

: १५ :

हिन्दी साहित्य की वर्तमान स्थिति : एक निवेदन

पाठको से हमारा निवेदन है कि वे इस निबध को, जो कि न्यूनाधिक सम्बद्ध टिप्पणियो का संग्रह है, विशेष ध्यान से पढें, और यदि उन्हे उसकी कुछ बातें पसन्द आयें, तो उनके अनुरूप बरतने का भरसक प्रयत्न करें।

विदेशी साहित्य एव समीक्षा की तुलना में हमारा साहित्य एव आलोचना कितने पिछडे हुये है, इसका यह अनुमान कराने या करने का कोई सहज उपाय नहीं है। एक ही उपाय है—कि हिन्दी के बहुत से पाठक तथा लेखक उच्च कोटि के देशी-विदेशी साहित्य से सुपरिचित बन जायें। आप पूछ सकते है—क्या सूर, तुलसी आदि ऊँची कोटि के कलाकार नहीं है, और क्या हिन्दी के काफी लेखक तथा पाठक उनसे परिचित नहीं है ?

उक्त प्रश्न के उत्तर में कुछ हद तक हाँ कहा जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि उक्त कलाकार बडे है, किन्तु इसमें सन्देह किया जा सकता है कि दूसरे बडे साहित्यकारों की तुलनात्मक पृष्ठभूमि के बिना हमारे इन कवियों का महत्व ठीक से हृदयङ्गम किया जा सकता है। अधिकाश पाठको में कुछ ऐसी धारणायें होती है कि चूंकि सूर, तुलसी महाकवि है, इसलिये उन्होने जीवन के जिन पक्षो पर जिस तरह से लिखा है, ठीक वैसे ही दूसरे श्रेष्ठ लेखकों को भी करना चाहिये, और इन कवियो ने जिन जीवन-प्रवृत्तियो एव जीवन-दर्शन का महत्व दिखलाया है, उन्हीं का महत्व-ख्यापन दूसरे साहित्य-कारो को भी करना चाहिये। सक्षेप में हिन्दी का औसत पाठक जीवन तथा जीवन-दृष्टियो की उस विविधता से परिचित नहीं होता जो कि विभिन्न देशों तथा कालो की रचनाओ में प्रतिफलित होती है। हिन्दी के पिच्चानवे फीसदी (शायद उससे भी अधिक) लेखक और पाठक उस सस्कृत-साहित्य से भी परिचित नहीं होते, जिसमें भारतीय साहित्य की उदात्त परम्परा निहित है। सस्कृत के काव्यो तथा नाटको में जीवन की समग्रता का आकलन हुआ है ; उनमें हमें विविध नर-नारियो के चरित्र मिलते है, जो कि स्वय जीवन की विविधता का प्रतिनिधित्व कर सकते है। हिन्दी-साहित्य के अधिकाश श्रेष्ठ चरित्र दैवी या अवतारी पुरुष है, जैसे राम, लक्ष्मण, भरत एवं कृष्ण ; प्राचीन हिन्दी-साहित्य में लौकिक नर वीरो का स्थान नगण्य-सा है। दूसरी

बात यह है कि हिन्दी-साहित्य में प्रायः या तो सस्कृत-साहित्य के धार्मिक एवं परलोक परायण तत्वों को लिया गया है, या फिर उसके ह्रास-काल की विकृत आलकारिता को। ऐहिक जीवन से सम्बद्ध सस्कृत साहित्य की उदात्त परम्पराओं की हिन्दी में बहुत-कुछ अवहेलना हुई है। अवश्य ही इसका कारण हिन्दी-साहित्य के निर्माण का पराधीनतामूलक वातावरण था।

सस्कृत-साहित्य के विकृत एवं कमजोर अनुकरण का एक अच्छा निदर्शन हिन्दी का नीति-साहित्य है। सस्कृत के चाणक्य, शुक्राचार्य आदि नीतिकारो ने छन्दोबद्ध रूप में जिन नीति-नियमो का प्रकाशन किया है वे स्वतत्र भारत के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन के सहज अङ्ग थे; हिन्दी कवियों द्वारा उन्हीं नीति-वाक्यो की आवृत्ति होना एक कृत्रिम प्रयास था, क्योकि वे सिद्धान्त और नियम पराधीन हिन्दू जाति के जीवन का अङ्ग नहीं रह गये थे। आज भी हिन्दी के साहित्यकार सभ्य तथा सस्कृत जीवन की समग्र जरूरतों के आलोक में साहित्य-रचना कर रहे हो, ऐसा दिखाई नहीं देता। सस्कृत-साहित्य तथा अन्य सभ्य देशो के साहित्यो से सुपरिचित होकर ही हिन्दी के लेखक तथा पाठक अपने साहित्य की कमियो को ठीक से समझ सकेंगे।

विशुद्ध हिन्दी-साहित्य की जानकारी रखने वाले लेखक और पाठक एक दूसरे कारण से भी अविकसित रह जाते हैं। योरोप के साहित्यकार तथा समीक्षक ही नहीं, दूसरी कोटियो के लेखक-विचारक भी बड़े जागरूक तथा सृजनशील है। आज हमारे देश में प्रायः किसी भी क्षेत्र में स्वतत्र चिन्तन नहीं होता। हमारे देश में भी राजनीति बहुत है, यह हमारे राजनीतिक विचार प्राय योरप और अमरीका अथवा रूस से आते है, सो भी अधकचरे रूप में। आधुनिक काल में हमारे देश का न कोई अपना अर्थ शास्त्र है, न राजनीति-विज्ञान, दर्शन अथवा नर-विज्ञान या समाज-शास्त्र। हमारे विश्वविद्यालयो में इन सभी विषयो में योरपीय सिद्धान्त तथा ग्रन्थ पढाये जाते है। (राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रेमी इस विषय पर ठन्डे दिल से विचार करें कि कब तक अपनी भाषा में वे इन विषयो के मौलिक ग्रन्थ प्रस्तुत कर सकेंगे।) देखने की बात यह है कि विभिन्न क्षेत्रों के विचारकों का साहित्य तथा साहित्य-समीक्षा पर भी प्रभाव पडता है। योरपीय साहित्य से अनभिज्ञ हमारे लेखक तथा पाठक इन प्रभावो से सर्वथा वचित रहते हैं, फलत वे यह कभी नहीं जान सकते कि युगोचित साहित्य किस प्रकार का होना चाहिये। यही कारण है कि हिन्दी के अधिकाश लेखक नितान्त अपरि-पक्व या अधकचरे रह जाते हैं; और नैसर्गिक प्रतिभा के बल पर दस-पाच

बरस उछल-कूद करके विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाते हैं ।

इस सम्बन्ध में हम पाठकों का ध्यान एक कष्टप्रद स्थिति की ओर आकृष्ट करेंगे । विदेशो के अधिकाश अच्छे लेखको की तुलना में हिन्दी का औसत श्रेष्ठ लेखक कम अच्छा तो लिखता ही है, कम अवस्था तक लिखता है, और कुछ वर्षों तक ही अच्छा लिख पाता है । अवस्था की वृद्धि के साथ लेखक की जीवनानुभूति में विस्तार होना चाहिए, उसकी जीवन-दृष्टि में परिपक्वता एव अभिव्यक्ति में प्रौढ़ता आती जानी चाहिए । हिन्दी-लेखको के साथ प्राय. विपरीत बात होती है; यौवन के ढलते-ढलते वे उच्चकोटि का सृजन करने में असमर्थ बन जाते हैं । वर्तमान हिन्दी में शायद कोई महत्वपूर्ण लेखक नहीं है, जिसने पन्द्रह-बीस वर्ष भी सगतरूप में श्रेष्ठ साहित्य लिखा हो, और जीवन के उत्तरार्ध में विशिष्ट साहित्य रचना की हो । प्रेमचन्द ने काफी बाद में साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त की, और फिर एक मात्र श्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' लिखकर दिवगत हो गये । अज्ञेय ने कम ही उपन्यास लिखे हैं, और जान पडता है कि 'सुनीता' तथा 'त्यागपत्र' लिखने के बाद जैनेन्द्र जी को मानवीय जीवन के सम्बन्ध में कुछ विशेष कहने को बाकी नहीं रह गया । यही बात छायावाद युग के कवियो के बारे में भी कही जा सकती है । उस काल के प्रसिद्धि-प्राप्त समीक्षक भी शिथिल होते दिखाई पड रहे हैं ।

इस स्थिति का क्या कारण है ? उत्तर है—हिन्दी का औसत लेखक अपने उन वर्षों में जब तक कि व्यक्तित्व का निर्माण होता है, विश्व-साहित्य से अवगतियों, विचारों, एव भावनाओ का उतना सचय नहीं करता जितना अनवरत विकास-शील सृजन के लिये अपेक्षित है ।

× × ×

कुछ पाठकों को शायद महसूस हो कि हम उनके समक्ष साहित्य के सृजन, आस्वादन एवं समीक्षा के बहुत ऊँचे पैमाने रख रहे हैं कि साधारण पाठक तया लेखक के लिए इतनी लम्बी-चौडी तैयारी करना बहुत कडी तपस्या एव साधना होगी । उत्तर में निवेदन है कि एक उन्नतिशील राष्ट्र के समझदार एव महत्वाकांक्षी नागरिक अपने-अपने क्षेत्रो में विशेष क्रियाशील या कर्मठ होते हैं । बौद्धिक क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं है । प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने लिखा है कि बडा लेखक या विचारक वही बन सकता है, जो विशिष्ट सृजन या चिन्तन के कार्य को जीवन का एक मात्र तथा चरम ध्येय बना ले । जो लेखक थोडी निन्दा से हतोत्साह अथवा थोडी प्रशसा से साधन-विरत एव निश्चिन्त हो जाता है, वह कभी अपनी प्रतिभा का उच्चतम उपयोग

नहीं कर पाता। हमारी यह भी आस्था है कि बिना काफी ईमानदार एवं उदात्त चरित्र-सम्पन्न हुए कोई भी विचारक या साहित्यकार विशेष ऊँची उपलब्धि नहीं कर सकता।

अध्ययन उतनी कठिन चीज नहीं है, जितना कि लोग समझते हैं। पढना नियमित होना चाहिए, पढने से पढ़ने की रुचि बढती है। किसी विषय की गूढ़ गुत्थियों से हम जितना ही परिचित होते जाते हैं, उतना ही उस विषय में हमारा अनुराग बढता जाता है। अच्छा साहित्य पढने से श्रेष्ठ साहित्य की भूख बढती है, दार्शनिक समस्याओं के बढिया विवेचन से दर्शन में रुचि उत्पन्न होती है। धीरे-धीरे यदि किसी में जिज्ञासा जग जाय कि जीवन क्या है, और उसका ध्येय क्या है, और जीवन के ध्येय को कैसे जाना और पाया जा सकता है—तो उसे बहुत से शास्त्रीय विषय रुचिकर लगने लगेंगे।

आपकी जिस विषय में रुचि हो, उस विषय के अच्छे ग्रन्थों का पता लगायें, और उन्हें पढने का प्रयत्न करें। अच्छे लेखको के ग्रन्थ जल्दी नहीं पढे जाते, और उनकी सामग्री जल्दी पचाई भी नहीं जा सकती। श्रेष्ठ ग्रन्थो को बार-बार पढना चाहिये, और उनमें रस लेने की कोशिश करनी चाहिये। श्रेष्ठ लेखकों अथवा ग्रन्थों के निकट सम्पर्क से ही हमारी सम्वेदना तथा चिन्तन का धरातल ऊँचा हो सकता है। उस निकट सम्पर्क के लिए यह आवश्यक है है कि आप उन्हे बार-बार पढें, जिसका एक मतलब यह भी है कि वे लेखक और ग्रन्थ आपके अपने पुस्तकालय में उपलब्ध हो।

हिन्दी में बहुत कम लेखक और पाठक है जो अपना एक सुन्दर पुस्तकालय बनाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु मेरा अनुभव है कि जिस व्यक्ति को अच्छी पुस्तकें सग्रह करने तथा पढने का व्यसन नहीं है, वह कभी श्रेष्ठ लेखक, समझदार पाठक एव उत्तम समीक्षक नहीं बन सकता। राजशेखर आदि पुराने आलकारिको ने यह बताने की कोशिश की है कि एक अच्छे कवि या साहित्य-कार को किन-किन विषयो का जानकार होना चाहिए। प्राचीन आचार्य कवियो के शिक्षण की समस्या का महत्त्व भली भाँति जानते थे। कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ आदि महान् साहित्यकारो की कृतियों से यह स्पष्ट है कि वे अपने समय के दर्शन, राजनीति-विज्ञान आदि से सुपरिचित थे। आज विज्ञानो की सख्या बढ गई है। आज के लेखक के लिए दर्शन और राजनीति से ही नहीं, समाज शास्त्र, नर-विज्ञान, भौतिक-शास्त्र, जीव-विज्ञान, आदि से भी न्यूनाधिक परिचित होना आवश्यक है।

बहुत से विषयो की बहुत-सी पुस्तकें पढने से उतना लाभ नहीं होता,

जितना कि कुछ महत्त्वपूर्ण विषयो की चुनी हुई पुस्तकें पढने से होता है। आप योरप का समूचा साहित्य पढने की व्यर्थ कोशिश न करें; कुछ महत्त्वपूर्ण लेखको के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ गम्भीरता से पढने का प्रयत्न करें। बहुत बडे लेखकों की कृतियों में उनके विशिष्ट क्षेत्र से सम्बन्धित अनुभव एवं समस्याओ के प्रायः सभी पहलुओं का विवरण या उल्लेख मिल जाता है। एक-दो महान् दार्शनिकों के प्रतिनिधि ग्रन्थो को पढकर आप दर्शन की समस्याओं का जितना सूक्ष्म तथा गहरा परिचय पा सकते है, वैसा दर्शन के पाँच-सात इतिहास पढ़कर नहीं पा सकते। शुरू में यह जरूरी है कि आप किसी विषय का एक पूरा विवरण या इतिहास पढें, किन्तु उसके बाद अध्ययन का अच्छा रास्ता यही है कि आप उस विषय की कतिपय 'क्लासिक्स' का गम्भीर अध्ययन कर डालें। साहित्य का अध्ययन भी इसी प्रकार होना चाहिये। योरप के सैकडों लेखको ने हज़ारो ग्रन्थ पढ़ने की अपेक्षा यदि आप वहाँ के चार-छः नये-पुराने लेखकों के काव्य तथा नाट्य-ग्रन्थ, और उतने ही लेखको के आठ-दस उपन्यास ठीक से पढ़ डालें, तो आपकी रस-सम्वेदना का ज्यादा उचित निर्माण या परिष्कार होगा, और आपका भाव-जगत् अधिक व्यवस्थित रूप में समृद्ध बन सकेगा।

साहित्य-प्रेमियों को एक नियम बनाना चाहियें—यह कि वे लम्बी आलोचनायें उसी लेखक या ग्रन्थ के सम्बन्ध में पढ़ेंगे जिसका उन्होने अध्ययन किया है। परीक्षाओ की आवश्यकता के बाहर विद्यार्थियों को भी यथाशक्ति इस नियम का पालन करना चाहिये। इस सम्बन्ध में भी यह स्मरण रहे कि ज्यादा लाभ बडे लेखको की विश्लेषणात्मक समीक्षायें पढ़ने से होता है।

चार-छः महान् लेखको की कृतियो तथा उनकी समीक्षाओं को पढ़ लेने के बाद ही आप इस योग्य बन सकेंगे कि साहित्य-सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं पर ठीक से सोच सकें, और उन समस्याओ के आलोक में, विभिन्न साहित्यिक वाद का महत्त्व आँक सकें। साहित्यिक अभिरुचि के विकास के लिए सबसे घातक चीज यह है कि आप पहले कतिपय साहित्य-सम्बन्धी मान्यताओ को पकड़ बैठें और बाद में अच्छे बुरे साहित्य का अध्ययन करें।

: १६ :

हिन्दी उपन्यास की कुछ समस्याएँ

हिन्दी उपन्यास अथवा हिन्दी-साहित्य की जिस समस्या का हम इस समय उल्लेख करना चाहते है, वह एक प्रकार से वर्तमान भारतीय सस्कृति मात्र की समस्या है। सक्षेप मे समस्या यह है—विभिन्न सास्कृतिक क्षेत्रो मे अन्तर्राष्ट्रीय धरातल को किस प्रकार प्राप्त करे ? अपनी इस बात को हम अधिक स्पष्ट करें। हमारे विश्वविद्यालयो मे इस समय अर्थशास्त्र, नर-विज्ञान, समाजशास्त्र, भौतिक-विज्ञान आदि प्राय. सभी विषयो की उच्च शिक्षा दी जाती है। किन्तु इसमें से किसी भी विषय में हमारे देश के विद्वान् उच्चकोटि का चिन्तन एव लेखन प्राय नहीं कर पाते, जैसा विदेशी विद्वान् कहते है। इसका मतलब सिर्फ यही नहीं कि हमारे यहाँ मौलिक विचारको की कमी या अभाव है, वल्कि यह भी कि हमारे पाण्डित्य का औसत धरातल योरपीय धरातल से नीचा है। सिर्फ एक उदाहरण से मै अपने कथन की पुष्टि करूँगा। श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन् हमारे देश के प्रमुख दार्शनिक समझे जाते है। किन्तु उन्होंने अपने किसी भी मन्तव्य के प्रतिपादन में वैसे तर्कपूर्ण एवं सम्बद्ध चिन्तन के सम्भवतः पचास पृष्ठ भी नहीं लिखे हैं, जैसे कि 'माइण्ड' जैसे पत्रो तथा 'प्रोसीडिङ्गस ऑफ् दी एरिस्टॉटीलियन सोसायटी' जैसे सकलनो में विभिन्न विद्वानो द्वारा प्रस्तुत किये जाते है। यह बात पाठकों को किसी प्रकार आतंकित करने के लिये नहीं कही जा रही है, इसका उद्देश्य उन्हे वस्तु-स्थिति से परिचित कराना मात्र है। फ्रेंच दार्शनिक वर्गसों ने अपनी अपरोक्षानुभूति की अन्वेषण-पद्धति को स्पष्ट करने के लिये एक स्वतन्त्र पुस्तिका लिखी है। राधाकृष्णन् भी अपरोक्षानुभूति में विश्वास करते हैं, पर उन्होने कहीं उसका गम्भीर निरूपण करने का प्रयत्न नहीं किया। एक स्वतन्त्र दर्शन-पद्धति के निर्माण की तो चर्चा ही व्यर्थ है।

यह समझना भूल होगी कि इस परिस्थिति के लिये श्रीराधाकृष्णन् और उनकी प्रतिभा ही जिम्मेदार है; हमारे देश में अभी ऐसा वातावरण ही नहीं है कि कोई व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में वहुत ऊँची कोटि का चिन्तन कर सके। साहित्य-सृजन के क्षेत्र में स्थिति कुछ अच्छी है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ भी वातावरण संतोषप्रद है। पहली वात यह है कि साहित्य एव साहित्यकार को शेष सास्कृतिक वातावरण से अलग नहीं किया जा सकता।

जिस देश में दूसरे क्षेत्रो में उच्चकोटि का सास्कृतिक कार्य नहीं हो रहा है वहाँ अनिवार्य रूप में साहित्य का स्तर भी बहुत ऊंचा नहीं हो पाता। दूसरे क्षेत्रों में समृद्ध विचारो एव उनकी वाहक व्यञ्जनाओ की कमी या अभाव होने के कारण साहित्यकार युगाभिव्यक्ति के साधनों से न्यूनाधिक वचित रह जाता है। हमारे देशी साहित्यों विशेषत. हिन्दी-साहित्य के साथ एक दूसरी परिस्थिति भी रही है। इन साहित्यों का धरातल देश के श्रेष्ठतम विद्वानो के धरातल से से प्रायः निम्नतर रहा है। कारण यह है कि देश के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् प्राय. देशी भाषाओं के प्रति उदासीन रहते रहे हैं। उदाहरण के लिये जहाँ पिछले साठ-सत्तर वर्षों से हमारे विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी साहित्य की उच्चशिक्षा दी जाती रही है, और सस्कृत साहित्य पर भी उच्चकोटि का कार्य होता रहा है, वहाँ हिन्दी में श्रेष्ठ समीक्षा का आरम्भ शुक्ल जी से पहले न हो सका, और आज भी उसकी स्थिति सराहनीय नहीं है। अग्रेजी के प्रौढ विद्वानों की तुलना में हमारे लेखको तथा समीक्षको की रस-सम्वेदना अभी भी कम विकसित या कच्ची ही कही जायगी। हिन्दी के थोडे ही लेखक इस नियम का अपवाद हैं।

आगे हम कथा-साहित्य या उपन्यास की ही विशेष चर्चा करेंगे। अवश्य ही पिछले तीन-चार दशाब्दो में हमारे कथा-साहित्य ने तेजी से उन्नति की है। किन्तु हमारी समीक्षा इस उन्नति का ठीक-ठीक विश्लेषण कर पाई है, इसमें सदेह है। साथ ही इस समीक्षा को अभी यह भी ठीक-ठीक अवगत नहीं है कि हमारे कथा साहित्य में क्या कमियाँ हैं। इस सम्बन्ध में हिन्दी लेखकों तथा समीक्षको की प्रतिभा प्राय उपचेतन धरातल पर व्याप्त होती रही है। प्रायः हिन्दी-समीक्षक अपने साहित्य के मूल्याकन में ऐसे मानों का प्रयोग करते रहे हैं, जो सार्वभौम नहीं हैं, और जिनका समुन्नत देशों में साग्रह प्रयोग नहीं किया जाता। विशेष लक्षित करने की बात यह है कि हिन्दी समीक्षक की रुचि एवं समीक्षा-बुद्धि का विकास प्राय. वर्तमान हिन्दी-साहित्य के विकास का समानान्तर रहा है। काव्य-क्षेत्र में 'प्रियप्रवास', 'साकेत', और कामायनी', क्रमशः हमारी साहित्यिक लब्धि एव समीक्षात्मक अभिरुचि दोनो का प्रतिमान रहे हैं। कथा-क्षेत्र में, 'ग़बन', 'सेवासदन', 'रगभूमि', 'गोदान', 'सुनीता' और 'शेखर' उसी प्रकार हमारी उपलब्धि एव रुचि के धरातल को प्रतिफलित करते रहे हैं। हिन्दी का समीक्षक हिन्दी से वाहर के साहित्यो तक कम पहुँचता रहा है, भले ही वह योरपीय समीक्षा-ग्रन्थो को उलट-पुलट रहा हो, प्राय. हिन्दी लेखक ही अपनी शक्ति के अनुसार बाहरी साहित्य से प्रेरणा लेता या पाता रहा है। किन्तु यह कहना अत्युक्ति न होगी कि अव तक हिन्दी के लेखक और

समीक्षक दोनो ही अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य के विकसित धरातल से सुपरिचित नहीं हो सके हैं।

स्थूल रूप में साहित्य के दो तत्त्व होते हैं, एक अनुभूति और दूसरी कल्पना। एक तीसरा तत्त्व भी है जिसे हम लेखक की दृष्टि या 'पर्स्पक्टिव' कह सकते हैं। श्रेष्ठ कथाकारों की कल्पना यथार्थानुकारी होती है, वह वास्तविक जीवन का भ्रम उत्पन्न करती है। दूसरे शब्दो में इस कल्पना की सृष्टि पूर्णतया विश्वसनीय एव प्रेषणीय होती है। लेखक की दृष्टि उसके द्वारा किये गये जीवन-स्थितियो के चयन एव उनकी व्याख्या को प्रभावित करती है।

उच्चकोटि का कथाकार जीवन के उन्हीं पहलुओ का चित्रण करता है जिनसे वह सुपरिचित है। आधुनिक श्रेष्ठ उपन्यास में कथावस्तु थोडी ही रहती है; अपेक्षाकृत छोटी कथावस्तु की परिधि में श्रेष्ठ उपन्यासकार जीवन के अनगिनत तत्त्वों को देख लेता है। प्राचीन कथाओ में कथावस्तु जितनी विपुल होती थी, जीवन की स्थितियो का विश्लेषण उतना ही कम मार्मिक। 'अलिफ़ लैला' की एक छोटी-सी कहानी में आप दर्जनों प्रसगों का उड़ता विवरण पढ जाते हैं। इसके विपरीत फ्लाबेर को 'मदाम बावेरी' की छोटी-सी कथा कहने में कई-सौ पृष्ठ भरने पड़े हैं। मार्मिक विश्लेषणों की बहुलता के कारण ही टॉलस्टॉय की 'एनाकेरिनिना' तथा 'वार एण्ड पीस' बृहत् ग्रन्थ बन गये हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यास मार्मिक नहीं बन सके है। उनके उपन्यासों में प्राय कथावस्तु बहुत विस्तृत हो जाती है और मार्मिक विश्लेषण के स्थल उसी अनुपात में विरल हो जाते है। स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द का देश के बहुत से वर्गों तथा विभिन्न कोटि के मनुष्यों से परिचय है, किन्तु सच यह है कि वे बहुत कम पात्रो का मार्मिक एवं गम्भीर चित्रण कर सके हैं। उनके उपन्यासों में 'गोदान' ही आधुनिक उपन्यास के विकसित धरातल पर पहुँचता दिखाई देता है, यद्यपि उक्त उपन्यास में भी जीवन के सतही विवरणो का अभाव नहीं है। प्रस्तुत लेखक को हाल ही में वकिम चन्द्र का 'कपाल कुण्डला' पुन. पढ़ने का अवसर मिला। उसे यह सोचकर आश्चर्य हुआ कि कुछ ही वर्ष पहले तक, सम्भवत आज भी, ऐसे उपन्यासो की गणना ऊँचे साहित्य में होती रही या होती है। नि सन्देह श्री वृन्दावनलाल वर्मा बंकिम चन्द्र से श्रेष्ठतर लेखक हैं, कम-से-कम यथार्थानुकारिता में। यदि वर्मा जी की 'दृष्टि' कुछ अधिक परिष्कृत एव विवेक-सम्पन्न होती तो वे और भी अच्छे उपन्यासकार बन सकते।

यथार्थानुकारिता की अनेक कोटियाँ और घरातल हैं। किन्हीं भी दो पात्रों

की बातचीत और उनके सम्बन्ध का चित्रण मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा रखता है। सामाजिक वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धो और उनकी विभिन्न प्रेरणाओ का उद्घाटन दूसरी, और शायद उच्चतर, यथार्थ-दृष्टि की माँग करता है। इससे भी अधिक दृष्टि एव प्रतिभा की जरूरत है जीवन के यथार्थ में से स्थितियो एव मनोवृत्तियो का महत्वपूर्ण चयन करने के लिए। इतना काफी नहीं है कि लेखक अपने समीप के जीवन को और केवल अपने युग के जीवन को जाने। श्रेष्ठ लेखक की दृष्टि जीवन के उन प्रसगो को पकडेगी जो मानव-इतिहास की अपेक्षाकृत स्थायी प्रेरणाओ को प्रतिफलित करते हैं। 'एना-कोरीनिना' के प्रथम परिच्छेद में जिस समस्या का सकेत है—अनेक बच्चो की मा का यौवन ढल जाने पर उसके अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ या सप्राण पति का अन्यत्र तृप्ति खोजना—वह, विशिष्ट वर्गों के दाम्पत्य-जीवन में, एक स्थायी समस्या है। इसी तरह 'वार एण्ड पीस' में पीयरे या पीये के सहसा समृद्ध हो जाने पर उसके समाज की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी का उसके प्रति आकृष्ट दीखने लगना अभिजात सामाजिक जीवन के एक गम्भीर तथ्य को प्रकट करता है।

इन दृष्टियो से हिन्दी के, और कुछ हद तक भारत के, उपन्यास-लेखको की यथार्थ-चेतना अल्प-विकसित हो रही है। इसका एक कारण है, हमारे लेखको की उक्त चेतना का शिक्षण कर सकने वाली सस्थाओ या परिस्थितियों का अभाव। एक महान् लेखक की चेतना को शिक्षित करने के लिए समूचे राष्ट्र को साधना करनी पडती है, उस शिक्षण में देश के विभिन्न विज्ञान-विशारदो का उतना ही हाथ रहता है जितना कि इतिहासकारो का। हमारे देश में इन 'एजेन्सीज' का आज भी अभाव है। आज तक न तो भारतवर्ष का कोई बढ़िया वैज्ञानिक इतिहास ही प्रस्तुत किया जा सका है—ऐसा इतिहास जो हमारी विभिन्न जय-पराजयों का तुलना-मूलक एव विश्वसनीय विवरण देता हो—और न हमारे किसी इतिहासकार ने सभ्यताओ के उत्थान-पतन जैसे प्रश्नो से उलझने का प्रयत्न ही किया है। जो देश स्वतन्त्र नहीं है, जिनके नेता और इतिहासकार दोनो यथार्थ को देखने-समझने के अभ्यस्त हैं, वहां के लेखको से इस बात की आशा नहीं की जा सकती कि वे जीवन को प्रौढ, इतिहासाधारित यथार्थ-दृष्टि से देखेंगे और चित्रत करेंगे।

हम भारतीय सदियो से स्वप्नदर्शी रहे हैं, 'विशफुल थिंकिंग' या मन-मोदको के अभ्यस्त। हमारी लम्बी गुलामी का शायद यह सबसे महत्वपूर्ण कारण है। यदि हमें अपने उपन्यासो में इस मनोवृत्ति का प्रतिफल मिले, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। जैनेन्द्र जी के 'व्यतीत' में अमीर नायिका गरीब

नायक के पीछे अपनी समृद्धि लिए घूमती फिरती है, एक दूसरी महिला भी उसकी रुपये से मदद करने को सदैव तैयार रहती है। शरत् की राजलक्ष्मी नायक श्रीकान्त की आर्थिक समस्या को अक्सर हल कर देती है, यद्यपि राजलक्ष्मी के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि वह गायिका होने के कारण जहाँ धन पा सकती है वहाँ किसी सहृदय भले-मानुष का प्रेम आसानी से नहीं पा सकती। किन्तु इस प्रकार की गायिका या वेश्या अपवाद-रूप हैं, वह समाज का व्यापक ऐतिहासिक सत्य नही है। यही बात रमणलाल वसन्तलाल देसाई के 'पूर्णिमा' उपन्यास के सम्बन्ध में कही जा सकती है। श्री इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित' में एक फैशनेबिल परिवार की लडकियो का कुरूप या विकलाग कवि-नायक की ओर आकृष्ट होना उसी प्रकार सामाजिक सत्य नहीं है। इन दृष्टियो से 'पथ की खोज' का नायक बड़ा भाग्यहीन है। उसकी प्रेमपात्री साधना अमीर होते हुए भी उसकी कभी आर्थिक सहायता नहीं करती। यो 'पथ की खोज' के अनेक प्रसंगो में अप्रौढ़ता अर्थात् अयथार्थ-दृष्टि का पर्याप्त पुट है।

हमारे उपन्यासो में बहुत-सी अपरिपक्वता आदर्शवाद के नाम पर भी आती रही है। 'रगभूमि' में विनय और सोफिया के प्रेम का चित्रण कुछ ऐसी ही चीज है—सन्देह होने लगता है कि प्रेमचन्द को नर-नारी के तीखे प्रेम का अनुभव हुआ था या नहीं। इसका मतलव यह नहीं कि श्रेष्ठ लेखक आदर्शवादी नहीं हो सकते, या वे नैतिकता के प्रति उदासीन होते हैं। श्रेष्ठ कलाकार नैतिकता के नियमो को कुछ इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं कि वे यथार्थ जीवन के यथार्थ नियम जान पड़ें। उच्चतम कोटि का लेखक पाठक की बोध-वृत्ति का प्रवचन करके नही, अपितु उसका पूर्ण उन्मेष करके उसका नैतिक शिक्षण करता है। यदि नैतिकता असली जीवन का नियम है—व्यक्ति और समाज की जीवन-समृद्धि का उपकरण है—तो उसकी महत्ता सिद्ध करने के लिये जीवन के यथार्थ को झुटलाना आवश्यक नहीं होना चाहिये। इस दृष्टि से टॉलस्टॉय की एना रगभूमि की सोफिया से ज्यादा प्रभविष्णु पात्री है। साधारण दृष्टि से व्यभिचारिणी होते हुए भी एना हमारी वृत्तियों का जितना परिष्कार कर सकती है उतना सोफिया नहीं। इसी प्रकार 'गोदान' के आदर्श पात्र, मेहता और मालती, हमारे मनोभावो का स्थायी उन्नयन करने में प्राय' असमर्थ रहते हैं।

खेद है कि हिन्दी-समीक्षा अभी तक इन सूक्ष्म प्रभेदो को देखने की अभ्यस्त नहीं वन सकती है। कोई लेखक गहरे अर्थ में नैतिक परिष्कार करने

की क्षमता रखता है, अथवा एक छिछले अर्थ में 'शिक्षाप्रद' है ; उसकी दृष्टि गम्भीर मनोवैज्ञानिक एव सामाजिक सचाइयो को पकडती है, या समाज के सतही यथार्थ को छूती है, इसका विवेक हिन्दी का औसत समीक्षक नहीं करता। ऐसे वातावरण में श्रेष्ठ कलाकार का पनपना कठिन हो जाता है। विद्यापति की राधा की भाँति उसे यह आशका या शिकायत बनी रहती है कि कहीं उसकी कला का माणिक्य घटिया पारखी के हाथो में न पड़ जाय—अथवा पड़ गया है।

हिन्दी का औसत समीक्षक आलोच्य कृति को उदात्त विश्व-साहित्य के सम्पर्क में विकसित सवेदना की कसौटी पर कम जाँचता है—वह प्राय अध-सोचे या अधपचाये वादो का प्रयोग करता है। विश्व की सभ्यताओ के उत्थान-पतन की व्याख्या करने के लिये ट्वायनबी को आठ-दस बडे खण्डो की योजना बनानी पडी है ; हिन्दी का औसत लेखक और समीक्षक बी० ए० की डिग्री पाते-पाते, अथवा उससे भी पहले, प्रगति, प्रतिक्रियावादिता आदि के सम्पूर्ण रहस्य से परिचित हो जाता है। किसी बडे विचारक का अनुयायी बन जाना, अथवा अपने को किसी फैशनेबिल वाद का हामी घोषित कर देना, उस आजीवन साधना का स्थानापन्न नहीं है जो लेखक की सवेदना का उच्चतम विकास और उसकी प्रतिभा का पूर्ण प्रस्फुटन करती है—इसे हिन्दी के जोशीले युवक-लेखक बहुत कम समझते या समझना चाहते हैं। किन्तु इसका परिणाम क्या है ? हिन्दी के सैकडो लेखको तथा आलोचको ने प्रगतिवाद को अपनाया, पर उनमें से कितने शुक्ल जी की चिन्तनशीलता को पा सके, और कितने 'कामायनी' जैसा काव्य भी हिन्दी को दे सके ? दस-पद्रह बरस उछल-कूद करके आज प्रगतिवाद अपनी निष्फलता के बोझ से श्रान्त नजर आ रहा है। आशका यह है कि कहीं तथाकथित प्रयोगवाद का भी वही हश्र न हो—क्योकि प्रथम 'तार सप्तक' के प्रकाशन के बाद वह निश्चित उन्नति करता दिखाई नहीं दे रहा है। 'नई कविता' की कुछ रचनायें देखकर ऐसा महसूस हुआ कि प्रयोगवादी कविता लिखने के लिये कोई गम्भीर साधना—देश-विदेश की सस्कृति का परिचय, मानवता की गहरी ममता, इतिहास की व्याख्या या निर्माण की साध—आवश्यक नहीं है ; कुछ अटपटी व्यजनाओ और उपमाओं को प्रस्तुत करने की क्षमता उसके लिये पर्याप्त सम्बल है। किन्तु थोडे सम्बल से मिल सकने वाली सफलता के महत्व में सदेह किया जा सकता है—किया जाना चाहिए।

अवश्य ही वाद का आश्रय लेने से थोड़े दिनो के लिये विज्ञापन की

सुविधा मिल जाती है—किन्तु, व्यक्तिगत साधना को शिथिल करने का कारण बनकर, यह सुविधा बड़ी मंहगी पडती है। यदि इन तथ्यो को समझते हुये कोई प्रतिभाशाली लेखक किसी वाद से सम्पर्क जोड लेता है, तो उतना खतरा नहीं है—बशर्ते कि लेखक 'वाद' की झोक में अपनी सम्वेदना को कृत्रिम तथा सकुचित न बना ले। हर हालत में उस लेखक को, जो वस्तुत' कलात्मक सृष्टि की ऊँचाइयो को नापना चाहता है, यह याद रखना चाहिये कि उसके प्रयत्नो का चरम ध्येय किसी एकागी वाद के सकीर्ण वर्ग में नहीं अपितु उस सार्वभौम एवं महान् बिरादरी में शरीक होना है जिसके सदस्य विश्व के समस्त देशो के सर्वमान्य साहित्यकार है।

: १७ :

दो उपन्यास

१—नदी के द्वीप

'नदी के द्वीप' अज्ञेय का दूसरा उपन्यास है। यहाँ हम केवल इस उपन्यास का मूल्य आँकने का प्रयत्न करेंगे, स्वय उपन्यासकार का नहीं, और इसका मतलब है कि हम 'शेखर—एक जीवनी' की एकदम ही उपेक्षा करेंगे। इसका एक कारण यह भी है कि प्रस्तुत लेखक ने इस उपन्यास को बहुत पहले पढा था, और इस समय उसकी स्मृति बडी क्षीण है, उस स्मृति को ताजा करने का अवकाश भी नहीं है।

'नदी के द्वीप' का मूल्याकन एक कठिन काम है, क्योकि उसके गुण-दोष दोनो ही सहज पकड़ में आने योग्य नहीं है। यो सम्भवतः कमियो की अपेक्षा उसके गुण ज्यादा स्पष्ट है। 'नदी के द्वीप' एक असाधारण कृति है; जिसका हमारे साहित्यिक विकास की इस भूमिका में एक विशेष महत्व है। उसकी विशेषताओ का ग्रहण एव विश्लेषण दोनों ही सूक्ष्म सवेदना एव तीखी अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा रखते हैं। उक्त उपन्यास की एक विशेषता यह भी है कि वह अपने पाठको को वैसी सवेदना एवं दृष्टि से सम्पन्न बनाने की क्षमता रखता है। मुमकिन है बहुत से पाठक 'नदी के द्वीप' को रुचि-पूर्वक न पढ सकें, किन्तु वे जो उसे उस भांति पढने का धैर्य्य एव योग्यता रखते है, उसकी इस क्षमता से प्रभावित एव लाभान्वित हुये विना नहीं रह सकते।

'नदी के द्वीप' एक बडे ही सजग एवं शिक्षित कलाकार की कृति है। 'शिक्षित' से मेरा मतलब है—डिसिप्लिन्ड, ऐसा लेखक जो लेखन के लिये अपेक्षित अनुशासन में पूरा-पूरा गुजर चुका है। यह अनुशासन लेखक को इस योग्य बनाता है कि वह अपनी सवेदना एवं अनुभूति को पूर्णतया परिष्कृत, व्यवस्थित और सही अभिव्यक्ति दे सके। इन दृष्टियो से, शायद, हिन्दी का कोई दूसरा उपन्यासकार अज्ञेय की समता नहीं कर सकता। इसका यह मतलब नहीं कि उक्त लेखक हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार है। सम्भवत हमारे किसी भी उपन्यासकार को यह पदवी नहीं दी जा सकती। हिन्दी ने अब तक कई अच्छे उपन्यासकार उत्पन्न किये है, पर उनमें कोई भी उतना

सर्व-क्षमता-सम्पन्न नहीं है कि अपने को निश्चितरूप में दूसरो के ऊपर प्रतिष्ठित कर सके। कुछ में एक कोटि की विशेषतायें है, तो कुछ में दूसरी कोटि की। प्रेमचन्द का समाज के सस्थाबद्ध (Institutonal) जीवन से जितना घना परिचय है उतना असाधारण सवेदना वाले व्यक्तियो की चेतना से नहीं, जैनेन्द्र और अज्ञेय में असाधारण चेतनाओ के विश्लेषण की क्षमता है, पर उन्हे अपेक्षित मूर्त्तरूप देने, मूर्त्त घटनाओ से सम्बद्ध करने की शक्ति कम है। फलत· यह कहना कठिन हो जाता है कि उक्त लेखको में कौन सर्वश्रेष्ठ है। दार्शनिक पृच्छाशीलता की दृष्टि से इन तीनो में प्रेमचन्द्र का स्थान सबसे नीचे और जैनेन्द्र का सबसे ऊपर है, सवेदना के सूक्ष्म अकन में, और कहीं-कहीं, भावनात्मक प्रवेग में यह विशेषता 'शेखर' में अधिक प्रतिफलित हो सकी है। अज्ञेय उक्त दोनो लेखको से बाजी ले जाते हैं। प्रेमचन्द की सब से बडी विशेषतायें हैं --मूर्त्त ऋजुता और प्रवाह। अपने एक उपन्यास 'दिव्य' में यशपाल जीवन-दृष्टि एव जीवन-स्थितियों के सामजस्य का पूर्ण निर्वाह कर सके हैं; इस दृष्टि से उनकी यह उपन्यास प्रौढ़ बन सका है।

सहसा विश्वास नहीं होता कि हमारी भाषा में, उसके विकास की इस अवस्था में, 'नदी के द्वीप' जैसी रचना प्रस्तुत की जा सकती है। 'नदी के द्वीप' एक ऐसी भाषा की कृति मालूम नहीं होता जिसका छोटा-सा इतिहास है और जो अभी निर्माण की अवस्था में है। अज्ञेय के उपन्यास में हमारी भाषा एक अनोखी सादगी, स्वाभाविकता एवं स्वच्छता, कान्ति और परिपूर्णता लिए हुए दिखाई पडती है। उसका प्रत्येक शब्द मानो हाल ही में टकसाल से ढल कर नई चमक तथा व्यंजकता लेकर, आगत हुआ है। वे शब्द जो सुपरिचित हैं, और वे जो अल्प-परिचित हैं, सभी वहाँ निराली सार्थकता से दीप्त और मुखर हैं। उपन्यास को पढते हुए हम विभिन्न पदों की इस आभामयी अर्थवत्ता से अनवरत विस्मित एव पुलकित होते चलते हैं, और हम आश्चर्य करते हैं कि क्या ये उसी परिचित भाषा के परिचित शब्द है, जिन्हें हम सैकडों पुस्तकों में प्रयुक्त होते देखते है। संस्कृत तथा हिन्दी के कोशकार अभी तक पर्यायवाची शब्दो से परिचित रहे हैं; समानार्थक दीखने वाले शब्दों के अर्थों में 'शेड्स' के कितने अन्तर हो सकते है—कितने अन्तरो को देखा और प्रेषित किया जा सकता है—यह अनुभूति 'नदी के द्वीप' के परिश्रमी पाठको को विशेप उपलब्ध होगी। उक्त उपन्यासकार द्वारा प्रत्येक पृष्ठ, प्रत्येक वाक्य और पक्ति इतनी शालीन सावधानी से लिखी गई है कि आलोचक के लिए यह निर्णय

करना कठिन हो जाता है कि वह उक्त विशेषता के निदर्शन के लिए, कहाँ से कौन-सा उद्धरण ले।

'यह पत्र समाप्त करके जब वह उठा, तब भोर का आकारहीन फीकापन क्षितिज पर छा गया था। डाकवर का गजर खड़कता रहा कि नहीं, चन्द्रमाधव ने नहीं सुना।' (पृ० ६८) और 'दो-तीन मिनट के बाद ही उसकी साँस नियमित चलने लगी—उस नियम से जो हमारी सकल्पना का नहीं, उससे निरपेक्ष प्रकृति का अनुशासित है, और उसके औंधे शरीर की सब रेखाओ में एक बेवस शिथिलता आ गई।' (पृ० ६९)

अज्ञेय के शब्द-प्रयोग की विशेषता वस्तुत. उनके व्यक्तित्व की—अथवा अनुभूति की, क्योंकि व्यक्तित्व अनुभूतियो का पुंज-मात्र है—विशेषता है। वर्ण्य-जगत, परिवेश अथवा पात्र की प्रत्येक विशेषता को यह कलाकार भिन्न, विश्लिष्ट रूप में रखता है, उसकी प्रत्येक अनुभूति, प्रत्येक प्रेक्षण व्यक्तित्व-सम्पन्न है। फलत. उसके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखता प्रतीत होता है। शब्दो की पैनी सीमायें और तीखी भिन्नतायें लेखक की देखने, अनुभव करने की उन विशेषताओ को प्रतिफलित करती है। परिपार्श्व की प्रत्येक विशेषता को अज्ञेय मानो एक स्वतन्त्र दृष्टिक्षेप से देखते और आंकते है। संक्षेप में, अज्ञेय की दृष्टि प्रखर रूप में विश्लेषणशील है।

इसके साथ ही यह दृष्टि सस्कृत एव शालीन भी है। उक्त उपन्यास के प्रमुख पात्र—भुवन, रेखा, गौरा—अपने सृष्टा की इन विशेषताओं से सम्पन्न हैं। उनकी रहन-सहन, बातचीत, एवं मान्यताओ सब पर एक शोभन, शिष्ट, शालीनता की छाप है। वे उस सस्कृत, सुघड जीवन के प्रतीक है जिनमें शिक्षा एवं सौजन्य का सहज सामजस्य रहता है, यह जीवन ही, अपनी समग्रता में लेखक का आदर्श है। चन्द्रमाधव के स्वभाव की जिह्मताओ एवं स्थूल वृत्तियो के वैषम्य द्वारा उक्त आदर्श को परिस्फुट करने का प्रयत्न किया गया है। चन्द्रमाधव, भुवन आदि की सूक्ष्मता भिन्नताओ को पकड़ने एवं प्रकाशित करने की चेष्टा की गई है।

'नदी के द्वीप' की एक महत्वपूर्ण विशेषता है, उसके प्रकृति-चित्र। इस चित्र-विधान में अज्ञेय की शब्द-शिल्पिता चरम सीमा पर पहुँची दिखाई देती है। शायद ही हिन्दी के किसी दूसरे लेखक ने सौन्दर्य के इतने बारीक, विश्लिष्ट-गुम्फित चित्र अंकित किये हो। एक उदाहरण पर्याप्त होगा —

"कुदेसिया बाग में उन दिनो फूल लगभग नहीं होते—कोई फूल ही उन दिनों में नहीं होता, सिवा वैजयन्ती के, जो चटक रगीन चूनर ओढ़े बीवी

शटल्लो बनी धूप में खडी रहती है । लेकिन खण्डहर पर चढी हुई 'बेगम बैरिया' लता की छाँह सुहावनी थी—फूल इसमें भी कई तेज़ रगो के भी होते हैं, पर इसकी लम्बी पतली बाहो में, हवा में झूमते गुच्छा-गुच्छा फूलो में एक अल्हड़पन होता है जो वैजयन्ती के भू-निष्ठ आत्म-सतोष से सर्वथा भिन्न होता है ·· और फिर इस विशेष लता के फूल भी तेज़ रग के नहीं थे, एक धूमिल गुलाबी रग ही उनमें था जो पत्तियों के गहरे हरे रग की उदासी कुछ कम कर देता था, बस । (पृ० १३४) ।

अब हम 'नदी के द्वीप' की कुछ कमियो का सकेत करेंगे । एक शब्द में कहें तो यह उपन्यास एक अशक्त कृति है । नीचे हम इस अशक्ति के उपादानो या कारणो की खोज करेंगे ।

'नदी के द्वीप' में किसी स्पष्ट, प्रखर आदर्श अथवा जीवन-दर्शन को अभिव्यक्ति देने की कोशिश नहीं की गई है । कहीं-कहीं अस्तित्ववादी जीवन-दृष्टि के सकेत हैं, पर वे विरल तथा निर्बल हैं । कहीं-कहीं नितान्त साधारण, भले शिक्षितवर्ग के विचार अनावश्यक आडम्बर से व्यक्त किये गये हैं—जैसे, जापान के युद्ध में आने की खबर से भुवन का विशेष विचलित होना (पृ० १७०-७१) । भुवन द्वारा गौरा को लिखे हुये इस पत्र में किसी ऐसी समस्या से उलझने का प्रयत्न नहीं है जिसका विचार शीला के लिये भी महत्वपूर्ण हो । रेखा और गौरा के सारे आदर के बावजूद हमें यह महसूस नहीं होता कि भुवन के विचारो एव सकल्पो का स्तर विशेष ऊँचा है, वह एक खास शिक्षित-शिष्ट वर्ग के सदस्यो के सामान्य चिन्ता-धरातल से अधिक ऊँचे उठते नहीं दीखता । कहीं भी भुवन के विचारो अथवा सकल्पो में ऐसी शक्ति नहीं है जो विचारवान् पाठक को बरबस बहा ले जाय । भुवन का कॉस्मिक-रश्मियो सम्बन्धी अन्वेषण पाठको को कुछ दूर की चीज़ जान पड़ता है । उसके महत्व को वे साक्षात् अनुभव नही करते, और उसके दूसरे विचार किसी भी अर्थ में असाधारण अथवा क्रान्तिकारी नहीं है । इस दृष्टि से रेखा तथा गौरा के चरित्र भी सशक्त नहीं बन सके हैं ।

यहाँ एक बात कह दी जाय—'नदी के द्वीप' का पाठक अपने तथा उपन्यास के पात्रो के बीच गहरे तादात्म्य का अनुभव कर पाता है । लेखक ने पात्रों के सतही, मात्र 'मैनर्स' से सम्बन्धित व्यापारों तथा भावनाओ का जितना सतर्क चित्रण किया है उतना उनकी मूल वासनाओ तथा उससे सम्बद्ध क्रियाओ का नहीं । यही कारण है कि हमें वे पात्र कुछ दूर-दूर से जान पड़ते हैं, और हम उन्हे अपनी आन्तरिक रस-वृत्ति द्वारा पूरा-पूरा नहीं पकड पाते । ऊपर हमने जो प्रकृति-चित्र उद्धृत किया है उसमें भी यही बात है—उसके नये-निराले

नाम हमारी रसात्मक वृत्ति के उन्मेप में बाधक होते है। साहित्य किसी भी प्रकार की विशिष्ट Specialised जानकारी के प्रदर्शन का माध्यम नहीं है, उसमें उतना ही बोध आना चाहिये जिसका कलाकार या पात्रो की भाव-चेतना से गहरा सम्बन्ध हो।

'नदी के द्वीप' का कोई भी पात्र सशक्त रूप में हमारे सामने खडा नहीं होता, चन्द्रमाधव भी नहीं। किसी भी पात्र से हमारा बहुत गाढा परिचय नहीं हो पाता। हम किसी पात्र का प्रगाढ परिचय दो तरह से पाते है—उसकी विभिन्न प्रेरणाओ (motives) को सम्बद्ध-रूप में ग्रहण करके, और उसे विभिन्न परिस्थितियो में उन प्रेरणाओ के अनुसार प्रतिक्रिया करते देखकर। हमने ऊपर कहा कि 'नदी के द्वीप' में किसी पात्र की जीवन-दृष्टि का सबल सकेत नहीं है—शरत् बाबू के 'शेष प्रश्न' में नायिका कमल के विशिष्ट दृष्टिकोण का दर्जनो सदर्भो में शक्तिपूर्ण प्रतिपादन एव प्रकाशन कराया गया है। वैसा-कुछ 'नदी के द्वीप' में नहीं मिलता, उसकी कथा का उद्देश्य भी किसी खास दृष्टि या सिद्धान्त का सकेत नहीं जान पडता। लेकिन ज्यादा शिकायत की बात दूसरी है—वहां विभिन्न पात्रो की जीवन प्रेरणायें मूर्त्त एव शक्तिपूर्ण रूप में प्रकाशित नहीं हो सकी है। वस्तुत, जीवन के लम्बे-चौड़े सदर्भ के अभाव में, ऐसा कठिन हो जाता है। रेखा क्या चाहती है, कैसा साथी चाहती है, किस दिशा में अपने जीवन को ले जाना चाहती है, इसका सफल निर्देश कहीं नहीं मिलता। रेखा और भुवन के व्यक्तित्वों में कितने स्थलो पर कितना मेल है, यह हम नहीं समझ पाते, कारण यह है कि हमें दोनो के अनेक प्रेरणा-स्रोतो का परिचय नहीं होता। बाद में, जब वे अलग होते है, तो यह समझना कठिन हो जाता है कि दोनों को कितनी व्यथा हुई या होनी चाहिये। गौरा तथा रेखा के व्यक्तित्वो में कहां कौन-सा मौलिक अन्तर है, क्यो भुवन दोनो को प्यार करते हुये भी बाद में गौरा के पास चला आता है—इन प्रश्नो का उपन्यास में कहीं समुचित समाधान नहीं है।

उपन्यास में भुवन और रेखा जगह-जगह दूसरे कवियो के उद्धरण प्रयुक्त करते पाए जाते है, जैसे वे स्वय अपनी प्रेरणाओ से न जीते हुए विभिन्न कवियों के भाव-स्पन्दन में अपने खोखले जीवन को भरने की सामग्री खोज रहे हो। उद्धरणों द्वारा वे जिन मनोदशाओ का भावन करते है उनका स्रोत स्वय उनके सामाजिक सम्बन्धो एव वैयक्तिक आकांक्षाओ में होना चाहिए। सामान्य नर-नारियो की भांति व्यवहार न करके जब वे कविताएं उद्धृत करने लगते है तो पाठको को धीरज रखना कठिन हो जाता है। स्वय भुवन ने एक बार

'कुछ शिकायत के स्वर से कहा, "तुम सिर्फ 'कोटेशन' बोल रही हो—अपना कुछ न कहोगी ?" (पृ० २०५)। जिन क्षणों में नर-नारी स्वय जीवन्त होते है और यदि प्रेम के क्षणो में जीवन्त न होंगे तो कब होगे ?—उस समय वे स्वयं अपने उमडते हुए आवेगो को प्रकट करते है, पढ़ी या सुनी हुई बातो को नहीं। और उन क्षणो में परम्परागत सस्कार उस जीवन्त भाव-स्पन्दन का अखण्ड अश बनकर प्रकट होते है, पृथक् उद्धरणों के रूप में नहीं।

हमने ऊपर कहा कि 'नदी के द्वीप' में सुन्दर प्रकृति-चित्र है। दुर्भाग्यवश ये चित्र भी उपन्यास को अशक्त बनाने का हेतु बन गए है। शायद उपन्यास में प्रकृति के वही चित्र स्थान पा सकते है जो पात्रो की भावनाओ में रंगे हो, अथवा उन भावनाओ को सफल बनाते या अभिव्यक्त करते हों। 'नदी के द्वीप' के प्रकृति-चित्रों में वैज्ञानिकता अधिक है, भाव-शबलता कम। वे अक्सर रेखा और भुवन के बीच व्यवधान खड़ा कर देते है जिससे उनके पारस्परिक सम्बन्ध की रसात्मकता कम हो जाती है। असली जीवन की अपेक्षा उपन्यास में पात्र एक-दूसरे के प्रति अधिक सवेदनशील होते है। विशेषतः प्रेमी और प्रेमिका एक-दूसरे के साथ होते हुए संभवत. किसी तीसरी ओर ध्यान नहीं ले जा सकते—कम-से-कम साहित्य में ऐसा ही होता है। 'नदी के द्वीप' में इस नियम का विपर्यय है, जो उसके प्रभाव के लिए घातक है।

'नदी के द्वीप' एक शक्तिपर्ण उपन्यास नहीं है इस तथ्य का एक पहलू यह है कि उसमें गहरा रसोद्रेक कर सकने वाले प्रसंगो की विरलता है। यो उक्त उपन्यास का प्रत्येक अंश किसी-न-किसी प्रकार की अर्थवती चेतना जगाता है, किन्तु ये विश्लिष्ट चेतनाएँ समन्वित होकर बड़ा प्रभाव कम पैदा कर पाती है।

इस सामान्य नियम के अपवाद भी है। अवश्य ही 'नदी के द्वीप' में कुछ प्रसग है जो रसोद्रेक करने में अपेक्षाकृत अधिक समर्थ होते है। उपन्यास का प्रारम्भिक परिच्छेद, जहाँ भुवन गई हुई रेखा की याद कर रहा है, ज्यादा प्रभावशाली होता यदि उसमें बिखरी हुई अनुभूति अधिक पुजीभूत हो सकती। चन्द्रमाधव से सम्बन्धित दो-एक प्रसग मार्मिक है, जैसे उसकी पत्नी कौशल्या के साथ की घटना। हेमेन्द्र, रेखा के पूर्व पति का प्रसग भी तीखे रूप में याद रहता है। चन्द्रमाधव का जगह-जगह रेखा तथा गौरा को एक साथ पत्र लिखना तथा दोनों का ही 'कोर्ट' करने का प्रयत्न करना, और फिर दोनों ओर से रूखे उत्तर पाना, हमारी विनोद-वृत्ति को खाद्य देता है। कश्मीर में रेखा और भुवन का पहला मिलन भी एक प्रभविष्णु प्रसग बन सका है।

'नदी के द्वीप' का सब से शक्तिपूर्ण अश वहाँ से शुरू होता है जहाँ, श्रीनगर में रेखा ने अपने कोख के शिशु को नष्ट करके शरीर को सकट में डाल लिया है। उसके बाद प्राय. अन्त तक उपन्यास की कथा विशुद्ध मानवीय धरातल पर चलती है—अनावश्यक उद्धरणो तथा अन्य विवरणो से मुक्त रहकर, यद्यपि वहाँ भी इन तत्त्वो का एकान्त अभाव नहीं है। अन्तराल-खण्ड में केवल विभिन्न पात्रो के पत्र-ही-पत्र हैं। ये पत्र अज्ञेय के अद्भुत निर्माण-शिल्प के प्रतीक हैं। गौरा के कक्ष में जलती हुई अँगीठी के सामने बैठे भुवन का आवेग-आवेश उपन्यास का एक सशक्त एव महत्वपूर्ण स्थल है। ऑपरेशन के बाद पीडित, क्लान्त और मृदुल-स्निग्ध रेखा तथा भुवन का मिलन-प्रसग भी बडा करुण तथा मार्मिक है। मृत शिशु की चेतना से आक्रान्त भुवन अँगीठी की आग को देख रहा है, उसका वर्णन भुवन की भावनाओ का मार्मिक प्रतिफलन करता है—

'आग लपकती और गिरती, कभी एक अधजली लकडी बीच में से टूटकर गिरती और आग का एक भाग दबकर अँधेरा या नीलाभ हो जाता, फिर फुरफुरा कर एक छोटी-सी शिखा उसमें से उमग आती और बढ जाती। उसी प्रकार भुवन का स्वर कभी मद्धिम पड जाता, कभी धीरे-धीरे ऊँचा उठ जाता, कभी उसकी वाणी क्षण भर अटककर फिर कई एक द्रुत चिनगारियाँ फेंक देती · (पृ० ३८९)।

कुल मिलाकर 'नदी के द्वीप' एक असाधारण उपन्यास है—एक असाधारण लेखक की असाधारणकृति। उस प्रत्येक व्यक्ति को जो हमारी भाषा की सूक्ष्म सम्भावनाओ से परिचित होना चाहता है, और उसे जो अपनी लेखनी अनुशासित करना चाहता है, इस उपन्यास का धैर्यपूर्वक पारायण करना चाहिये।

२—बाण भट्ट की आत्मकथा

'वाणभट्ट की आत्मकथा' श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी का एकमात्र उपन्यास है। हिन्दी में कोई दूसरा व्यक्ति इस तरह के उपन्यास या कथा को लिख सकता था, ऐसी कल्पना करना कठिन है। पं० रामचन्द्र शुक्ल शायद सस्कृत साहित्य के उतने सरस-सहृदय पाठक न थे ; भारतीय सस्कृति के अन्य अगो से भी उनका ऐसा गहरा परिचय न था। द्विवेदी जी की प्रधान विशेषता है—कठोर पाण्डित्य के साथ एक अपूर्व सहज सरलता तथा मस्ती का योग। द्विवेदी जी पूरी डिसिप्लिन के साथ पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थो का निर्माण ही नहीं करते, वे उन्मुक्त निर्द्वन्द्वता से हँस भी सकते हैं। सभवत इस समय अनेक

दृष्टियो से वे हिन्दी माध्यम से बोलने वाले दो-एक श्रेष्ठ वक्ताओ में है।

तो, द्विवेदी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिख डाली, मानो पाण्डित्य ने अपनी गरिमा से ऊबकर उच्छ्वासित आत्म-विनोद करने का प्रयत्न किया हो। स्वयं बाणभट्ट भी कोरा कलाकार ही नहीं था, कम-से-कम पाण्डित्य-प्रदर्शन के प्रति विमुख न था। उसकी अलिखित आत्मकथा लिखने का कोई दूसरा अधिकारी हो ही नहीं सकता था।

जिन्होने बाणभट्ट की 'कादम्बरी' तथा 'हर्षचरित' नहीं पढ़े है वे ठीक से अनुमान नहीं लगा सकते कि 'कथा' के रूप में द्विवेदी जी ने कितनी महत्व-पूर्ण चीज़ हिन्दी को दी है। साहित्य के साथ ही द्विवेदी जी यदि 'क्लासिकल', भारतीय सस्कृति के गहरे जानकार न होते तो वे हर्गिज़ इस 'कथा' का निर्माण न कर पाते।

'कथा' में द्विवेदी जी के मुख्य उद्देश्य दो हो सकते ह—एक, प्रसिद्ध बाणभट्ट की लेखन-शैली की विडम्बना प्रस्तुत करना, और दूसरे, हिन्दी पाठको को संस्कृत साहित्य के, विशेषतः बाणभट्ट के, उज्ज्वल सौन्दर्य-बोध की समृद्ध अवगति देना। इन दोनो ही दृष्टियो से द्विवेदी जी पूर्णतया सफल हुये हैं।

किन्तु, द्विवेदी जी का कृतित्व यहीं तक सीमित नहीं है। एक स्वतत्र कथाकार एव कलाकार के रूप में भी उन्हे आश्चर्यजनक सफलता मिली है। कथा में उन्होने एक कहानी गढ़ने का प्रयत्न किया है, जिसकी सफलता का सबूत उसकी रोचकता है। मानवीय रोचकता की दृष्टि से हमें 'कथा' का पूर्वार्द्ध अधिक प्रिय लगा ; उत्तरार्द्ध की रचना करते समय सभवतः लेखक कुछ ऊब महसूस करने लगा था। 'कथा' अपूर्ण रह जाती है, अपनी परिणति की ओर नहीं बढ पाती, इसका एक कारण लेखक का अनावश्यक नैतिक सयम अथवा साहित्यिक साहसहीनता भी है। लेखक मानो अपनी वाणी पर एक विशेष प्रकार का प्रतिबन्ध या प्रतिरोध लगाकर लिख रहा हो। लेखक ने स्वयं इसे स्वीकार किया है—'इस 'कथा' में सर्वत्र प्रेम की व्यजना गूढ और अदृप्त भाव से प्रकट हुई है। ऐसा जान पड़ता है कि एक स्त्री-जनोचित लज्जा सर्वत्र उस अभिव्यक्ति में बाधा दे रही है।' इस बात में 'आत्मकथा' पर्णतया बाणभट्ट के अनुरूप नहीं है।

वैसे 'कथा' में वे सब विशेषतायें है जो संस्कृत के, और विशेषत: बाण-भट्ट के गद्य-काव्य में पाई जाती है। जैसा कि द्विवेदी जी ने उपसहार में लिखा है—'कादम्बरी' की कला में आँखो का, अर्थात् प्रेक्षणमूलक चेतना का प्राधान्य है। 'कादम्बरी' का लेखक चित्र खडे करने की कला में अद्वितीय

है, यद्यपि ये चित्र सर्वत्र रसोद्रेक नहीं करते। उदाहरण के लिए बाणभट्ट ने महाश्वेता की शुभ्रता का चित्र खड़ा करने के लिए कई दर्जन उपमायें खर्च कर डाली हैं। इस दृष्टि से मितभाषी कालिदास और मुखर बाणभट्ट में काफी अन्तर है। और इस दृष्टि से 'अज्ञेय' के निर्लिप्त चित्र-विधान तथा बाणभट्ट के वैसे वर्णनो में कुछ साम्य है—यद्यपि बाणभट्ट में उतने बारीक विश्लेषण की प्रवृत्ति नहीं है। 'कादम्बरी' के वर्णनो की भांति 'आत्मकथा' के वर्णन भी कथा-प्रवाह में व्याघात उपस्थित करते हैं। मतलब यह कि 'आत्मकथा' की अधिकाश कमियां बाणभट्ट की कमियो का सफल प्रतिफलन मात्र हैं।

बाणभट्ट की सब से बडी शक्ति और अशक्ति है—रागात्मक जरूरतो से निरपेक्ष, विदग्ध, वैचित्र्यपूर्ण वर्णन के प्रवाह में वह जाना। 'कथा' की कलात्मक जरूरतो को भुलाकर बाण मानो अपनी ही वाणी के प्रबल आवर्त्त में फंसकर रह जाता है। उसका शब्दो एवं उनके सगीत का अनुराग वैसा ही उत्कट है। जैसा अग्रेजी कवि स्विनबर्न का। और कवि की वर्णना का विषय कोई भी वस्तु या स्थान हो सकता है—एक अश्व या सरोवर उतना ही जितने कि नायक-नायिका अथवा अन्यपात्र। द्विवेदी जी ने बाणभट्ट की इन विशेषताओ का पूर्ण निर्वाह किया है। एक नमूना देखिये—

"इसी समय उस राजकन्या ने वीणा बजाना शुरू किया। मैंने''' इस कमनीयता की मूर्ति की ओर देखा ·। अत्यन्त धवल प्रभा-पुंज से उसका शरीर एक प्रकार ढंका हुआ-सा ही जान पडता था, मानो वह स्फटिक गृह में आबद्ध हो, या दुग्ध-सलिल में निमग्न हो, या विमल चीनाशुक से समावृत हो, या दर्पण में प्रतिबिम्बित हो, या शरद् कालीन मेघ-पुंज में अन्तरित चन्द्रकला हो। निश्चय ही यह धर्म के हृदय से निकली हुई है। मानो विधाता ने शख से खोदकर, मुक्ता से खींचकर, मृणाल से संवार कर, चन्द्र-किरणो के कूचक से प्रक्षालित कर, सुधा-चूर्ण से धोकर, रजत-रस से पोछ, कुटज कुन्द और सिन्धुवार पुष्पो की धवल कान्ति से सजाकर ही इसका निर्माण किया था। अहा, यह कैसी अपूर्व पवित्रता है! यहां क्या मुनियो की ध्यान-सम्पत्ति ही पुंजीभूत होकर वर्त्तमान है, या रावण के स्पर्श-भय से भागी हुई कैलास पर्वत की शोभा ही स्त्री-विग्रह धारण करके विराज रही है, या बलराम की दीप्ति ही उनकी मत्तावस्था में उन्हें छोडकर भाग आई है, या मन्दाकिनी की धारा ने ही यह पवित्र रूप ग्रहण किया है।" (पृ० ३९-४१)।

भट्टिनी का पहली बार परिचय पाने पर बाणभट्ट उनके पवित्र व्यक्तित्व का इस प्रकार वर्णन करता है—

"उचित स्थान पर विधाता का पक्षपात हुआ है। हिमालय के सिवा गगा की धारा को कौन जन्म दे सकता है ? महासमुद्र के सिवा कौस्तुभमणि को कौन उत्पन्न कर सकता है ? धरित्री के सिवा और कौन है जो सीता को जन्म दे सके ? मैं बडभागी हूँ, जो इस महिमाशालिनी राजबाला की सेवा का अवसर पा सका। आहा ! किस पाप-अभिसन्धि ने इस कुसुम कलिका को तोड लिया था ? किस दुर्वह भोग-लिप्सा ने इस पवित्र शरीर को कलुषित करने का सकल्प किया था ? किस दुर्निवार पाप-भावना ने ज्योत्स्ना को मलिन करना चाहा था ? मेरे हृदय की भक्ति और भी बढ गई।" (पृ० ५८)।

'आत्मकथा' की एक स्पृहणीय विशेषता है, उसकी व्यापक विनोद-भावना। बाणभट्ट जगह-जगह स्वयं उपने को लक्ष्य करके हँसता है। शुरू में ही वह बतलाता है, किस प्रकार उसे उसके गाँव के लोगो ने 'बण्ड' (पूँछ-कटे बैल) की उपाधि दी थी जिसे उसने सस्कृत शब्द 'बाण' द्वारा सस्कार करके अपने नाम की इज्जत बढ़ा ली। चौथे उच्छ्वास में एक पुजारी का बडा विनोदपूर्ण वर्णन है। वर्णन को विशेष विनोदपूर्ण बनाने के लिए पुजारी बाबा को बहुत ही विरूप चित्रित किया गया है—यह कादम्बरीकार के युग की कला की स्थूलता का सबूत है। यो 'आत्मकथा' का हास्य स्वय द्विवेदी जी की विशेषता है। छठे उच्छ्वास में एक बाबा बाणभट्ट से, उसके ये कहने पर कि मै अमगल से डरता हूँ, उससे इस प्रकार बातें करते हैं —

'ब्राह्मण है न ?'

'हाँ, आर्य !'

'तेरी जाति ही डरपोक है। क्यो रे, महावराह पर तेरा विश्वास नहीं है ?'

'है आर्य !'

'झूठा ! तेरी जाति ही झूठी है !'

पाठक इस सवाद की विनोदात्मकता की अधिक दाद दे सकेंगे यदि वे स्मरण रखें कि बाणभट्ट ही नहीं, 'आत्मकथा' का लेखक भी स्वयं ब्राह्मण है !

'बाणभट्ट की आत्मकथा' मन में एक प्रश्न उठता है—क्यो द्विवेदी जी ने अपनी रचनात्मक प्रतिभा का और अधिक सदुपयोग नहीं किया ? क्यो वे अपना अधिकांश समय रूखे रिसर्च-कार्य को ही देते रहे हैं ? कहीं इसका कारण उस नैतिक साहस की कमी तो नहीं है जो 'आत्मकथा' के शृगार के दृप्त बनने में बाधक हुई है ?